લક્ષ્મણા વલય



શિવકુમાર જોશી

लक्ष्मण-काव्य: मनीषियों की दृष्टि में

श्री शिवसिंह 'सरोज' जी हिन्दी के ओजस्वी कवि हैं। उन्होंने लक्ष्मणजी का अपने इस काव्य का मुख्य पात्र बनाया है। लक्ष्मण हमारे साहित्य में सेवा और त्याग के आदर्श हैं। उनकी बुद्धि सहज और दृष्टि लक्ष्य भेदिनी है। वीरता, साहस और कभी-कभी अधीरता की सीमा तक पहुँच जाने वाली निर्भीकता उनके चरित्र में पाई जाती है। परम्परा से वे लोक-हृदय में अपनी अकुंठ सेवा, अकातर त्याग, अदृष्टपूर्ण ब्रह्मचर्य और अकुलोभय वीरता के प्रतीक रहे हैं। सरोज जी ने इसी वीर चरित्र को लेकर यह काव्य लिखा है।

उन्होंने लक्ष्मण के सभी सद्गुणों को अपनी प्रवाहपूर्ण, सहज और उदात्त शैली में चित्रित किया है। उनके इस काव्य को पढ़कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। उन्होंने लोकचित में प्रतिष्ठित आदर्शों और मर्यादाओं के भीतर रहकर लक्ष्मण के अत्युज्ज्वल चरित्र को उजागर किया हे। इस उत्तम काव्य की रचना के लिए वे सहृदयों के साधुवाद के अधिकारी हैं।

—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

श्री शिवसिंह 'सरोज' ने हिन्दी में लक्ष्मण जी पर एक काव्य लिखा है। सरोज जी हिन्दी के एक सफल ओजस्वी कवि हैं और उन्होंने लक्ष्मण जी के जीवन और कार्यो का विशेष अध्ययन किया है। इस काव्य में लक्ष्मण जी के चरित्र का उदात्त अंकन किया गया है।

—श्री नारायण चतुर्वेदी

श्री शिवसिंह सरोज नगर के जाने-माने पत्रकार होने के बावजूद मूलरूप से कवि हैं और कविता के क्षेत्र में अनगिनत कवियों से पृथक श्री सरोज वीर-रस के कवि हैं। अनादिकाल से वीरता ही राष्ट्र-निर्माण में सहायक रही है।

श्री शिव सिंह 'सरोज' ने 'लक्ष्मण' नाम का महाकाव्य लिखा है। रामकाव्य की दुनिया में कमी नहीं है, लेकिन लक्ष्मण के चरित्र के उभारने वाला कोई काव्य मेरी नजर में नहीं आया। सरोज जी का यह महाकाव्य हिन्दी-साहित्य को एक महत्वपूर्ण योगदान होगा, यह आशा की जा सकती है।

—भगवती चरण वर्मा

श्रीयुत् शिवसिंह 'सरोज' हमारी भाषा के जाने-माने कवि हैं, वीर काव्य रचयिता के रूप में वे हमारे प्रदेश के कवियों में अग्रणी हैं। इसके अतिरिक्त पत्रकार के रूप में भी उन्होंने सुप्रतिष्ठा प्राप्त की है। कवि सरोज जी ने हाल ही में 'लक्ष्मण' नामक महाकाव्य की रचना की है। मेरा विश्वास है कि यह रचना हिंदी साहित्य में यथेष्ठ कीर्ति अर्जित करेगी।

अमृतलाल नागर
अध्यक्ष
उ. प्र. हिन्दी समिति, लखनऊ।

लक्ष्मण - काव्य

(रामानुज वीरवर लक्ष्मण जी के ज्वलंत जीवन पर आधारित महाकाव्य)

प्रणेता :

श्री शिवसिंह 'सरोज'

प्रकाशक :

रवीन्द्र-प्रकाशन

१७७, कैन्टूमेंट रोड, लखनऊ—२२६००१

मूल्य १५) रु०

मुद्रक :
दि पायोनियर प्रेस, लखनऊ—२२६००१

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

आशीर्वचन



समग्र श्री राम कथा का उत्स वाल्मीकि रामयण है। देश-विदेशों में सहस्त्राब्दियों से कहीं भित्ति चित्र, में कहीं लिपिबद्ध, विभिन्न परिवेशों में श्री राम कथा का चारु चित्रण सर्वत्र उपलब्ध है। श्री लक्ष्मण कथा का मूल स्रोत भी वाल्मीकि रामायण ही है। महर्षि वाल्मीकि श्री लक्ष्मण जी को श्री राम के दक्षिण बाहु एवं बहिः प्राण कहते हैं। श्री लक्ष्मण के बिना श्री राम भोजन नहीं करते हैं तथा शयन नहीं करते हैं, क्योंकि भुजा के बिना भोजन सम्भव नहीं है, तथा प्राण के बिना निद्रा सम्भव नहीं है।

गोस्वामी जी ने श्री लक्ष्मण जी को श्री राम कीर्ति पताका का दण्ड (आश्रय) बतलाया है–

रघुपति कीरति बिमल पताका ।
दंड समान भयेउ जस जाका ॥

यह सर्वविदित है कि दण्ड के आश्रय में ही पताका रहती है। जहाँ भी कहीं श्री राम कीर्ति पताका को किसी ने झुकाना चाहा श्री लक्ष्मण जी के दण्डायमान यश ने उस पताका को झुकने नहीं दिया। श्री जनक जी ने वात्सल्य कहा था–'वीर विहीन मही मैं जानी', किन्तु श्री लक्ष्मण कुमार ने स्पष्ट कहा कि "कही जनक जस अनुचित बानी, विद्यमान रघुकुल मनि जानी"। अन्त में वे ब्रह्माण्ड को कन्दुक के समान उठाने को तैयार हो गये मेरु पर्वत को मूली के समान तोड़ने के लिये सावधान हो गये। केवल उनके वचनों को सुनकर पृथिवी, दिग्गज आदि डगमगाने लगे, तब सभी को विश्वास हो गया कि लक्ष्मण जी जो कुछ कह रहे हैं, वह केवल वाग्विलास मात्र नहीं है, किन्तु सब कुछ क्रिया के रूप में परिणत कर सकते हैं।

श्री परशुराम जी ने भी श्री राम कीर्ति पताका को झुकाने का प्रयास किया, किन्तु श्री लक्ष्मण जी के दण्डायमान यश ने झुकने नहीं दिया। अन्त में परशुराम पराजित हुए तथा श्री राम लक्ष्मण विजयी हुए।

वैसे पुराणों में श्री राम विष्णु के अवतार तथा श्री लक्ष्मण शेष के अवतार हैं, किंतु रामायण में श्री राम विष्णु के अवतार नहीं हैं तथा श्री राम विष्णु के

कारण तथा शेष के कारण श्री लक्ष्मण जी हैं। मानस में जब श्री राम धनुष तोड़ने को उद्यत होते हैं तब श्री लक्ष्मण जी दिग्गजों, कमठ, शेष, सूकर आदि को सावधान कर पृथिवी को धारण किये रहने का आदेश देते हैं–

दिसि कुंजरहुं कमठ अहि कोला।
धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
राम चहहिं संकर धनु तोरा।
होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥

मेरी आज्ञा से आप लोग सजग हो जायें। श्री लक्ष्मण जी के इस कथन से स्पष्ट है कि वे शेष को भी आज्ञा देने वाले हैं, अतः शेष के भी कारण हैं।

श्री राम के वन-गमन के समय समग्र सुख-सुविधाओं का परित्याग कर जिस अनुराग के साथ श्री लक्ष्मण जी ने श्री राम का अनुगमन किया है, वह विश्व में भ्रातृ-प्रेम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। श्री लक्ष्मण जी ने कहा कि धर्म नीति का वही अधिकारी है, जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य एवं सुगति प्यारी हो, मैं तो प्रभु के स्नेह का अधिकारी हूँ, अतः मराल बाल को मेरु पर्वत उठाने की आज्ञा न दें :—

धरम नीति उपदेसिय ताही।
कीरति सुगति भूति प्रिय जाही॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मंदर मेरु कि लेइ मराला॥'

प्रायः महापुरुष गण कीर्ति, ऐश्वर्य लोक में, तथा धर्म, मोक्ष परलोक में चाहते हैं, किन्तु श्री लक्ष्मण जी ने दोनों का परित्याग कर दिया। 'वाल्मीकि' में स्पष्ट कहा—

'न दवें लोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं वापि लोकानां कामये न त्वया विना।'

मैं देवलोक जाना नहीं चाहता, अमरत्व नहीं चाहता, आपको छोड़ कर मैं समस्त लोकों का ऐश्वर्य नहीं चाहता।

श्री लक्ष्मण जी कहते हैं आप तो श्री जनक नन्दिनी के साथ पर्वत के शिखरों पर विहार करेंगे मैं शयन एवं जागरण-दोनों समय में आपकी सेवा करूँगा–

'भवांस्तु सह वैदेह्या गिरि सानुषु रंस्यते।
महं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्चते।'

इस श्लोक से स्पष्ट है कि श्री लक्ष्मण कुमार ने चौदह वर्षों तक जागरण करते हुए प्रभु की सेवा की।

जब सुग्रीव ने पूछा कि आपका स्वरूप राजकुमार के समान है, किन्तु क्रिया सेवकों की भांति है, आपका प्रभु के साथ क्या सम्बन्ध है ? श्री लक्ष्मण कुमार ने

रुचि के अनुसार आज्ञा दें कि मैं कहां पर्णशाला बनाऊँ। दास्य भाव का ऐसा उदाहरण विश्व में अन्यत्र अलभ्य है।

गोस्वामी जी ने श्री सीता राम जी एवं भरत आदि भ्राताओं की वन्दना चार अर्धालियों में की है, किन्तु श्री लक्ष्मण जी की वन्दना आठ अर्धालियों में की है कहा–प्रभु अपनी ओर से मुझको छोटा भ्राता मानते हैं, किन्तु प्रभु के गुणों से आकृष्ट होकर मैं तो इनका दास बना दूँ–"गुर्णदास्यमुपागतः"। शूर्पनखा से भी उन्होंने कहा–

सुंदरि सुनु मैं उन कर दासा।
पराधीन नहिं तोर सुपासा॥'

जब मूर्च्छा से श्री लक्ष्मण कुमार जगे तो सुग्रीव आदि भक्तों ने उनसे पूछा कि आपकी पीड़ा का क्या समाचार है ? श्री लक्ष्मण जी ने कहा कि घाव अवश्य मेरे हृदय में था, किन्तु पीड़ा का अनुभव तो श्री राम को ही हुआ होगा। अतः उन्हीं से पूछो पीड़ा कैसी है–

'हृदय घाव मेरे पीर रघुवीरे॥
पाय सजीवन जागि कहत यों प्रेम पुलकि विसराइ सरीरे॥'

(गीतावली)

ये समग्र पद अनुशीलन योग्य है।

राज्याभिषेक के समय जब युवराज पद के लिए प्रभु ने उनसे अनुरोध किया तब उन्होंने अस्वीकार कर दिया, फिर श्री भरत जी का अभिषेक किया गया–

"ततोऽभ्यषिचद् भरतं महात्मा।"

जब गोदावरी तट पर प्रभु ने उनसे कहा कि जहां जल आदि की सुविधा हो वहाँ आप अपनी रुचि के अनुसार पर्णशाला का निर्माण करें। प्रभु के वचनों को सुनकर श्री लक्ष्मण जी घबड़ा गये तथा उन्होंने श्री जानकी जी के चरणों में प्रणाम किया तथा प्रार्थना की कि यदि मुझसे कोई त्रुटि हो गयी हो तो आप प्रभु को अनुकूल कर दें।

'सीता समक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत्।'

यदि उनसे पूछा जाय कि क्या अपराध उनसे बन गया जो घबड़ा कर श्री सीता जी के समक्ष प्रभु की शरणागति कर रहे हैं तो इसका उत्तर यही है कि प्रभु ने कहा कि जहाँ आपकी रुचि हो वहां पर्णशाला बनावें।

श्री लक्ष्मण जी को भय इस बात का है कि प्रभु ने ऐसा वचन क्यों कहा कि जहाँ आपकी रुचि हो वहाँ पर्णशाला बनावें। स्वामी के समय सेवक की पृथक रुचि का क्या प्रश्न है। उन्हें अपने में स्वतंत्रता का भय उत्पन्न हो गया अतः प्रभु से कहा कि हे नाथ ? मैं अनन्त काल तक आपका परतंत्र दास बना रहूँगा। आप अपनी

जब श्री राम दरबार में गोस्वामी जी की विनय पत्रिका पहुँची तो प्रभु को उनकी पत्रिका प्रस्तुत की है।

'मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकाल हूं नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।'

इनकी वन्दना में गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है।

'लाड़िले लषन लाल हित हौ जन के।
सुमिरे संकटहारी सकल मंगलकारी पालक कृपालु आपने पन के॥
धरनी धरनहार भंजन भुवनभार अवतार साहसी सहस फनके।
सत्य संध सत्यव्रत परमरन निरमल करम वचन अरु मन के॥
रूप के निधान धनुबान पानि तून कटि महावीर विदित जितैया बड़े रन के।
सेवक सुखदायक सबल सब लायक गायक जानकीनाथ गुन गन के॥
भावने भरत के सुमित्रा सीता के दुलारे चातक चतुर राम श्याम धन के।
बल्लभ उर्मिला के सुलभ सनेह बस धनी धन तुलसी से निर्धन के॥'

वास्तव में श्री राम श्याम घन के चतुर चातक, तुलसीदास के धनी एवं धन श्री लक्ष्मण जी हैं।

श्री लक्ष्मण काव्य में कहाकवि श्री सरोज जी ने श्री लक्ष्मण जी के सर्वांगीण चरित्र का चित्रण किया है वह अतुलनीय है। श्री सरोज जी ने श्री लक्ष्मण जी के चरित्रों का स्वाध्याय एवं मनन किया है। लक्ष्मण पुरी (लखनऊ) में जो वीरवर श्री लक्ष्मण जी की प्रतिमा का स्वर्गीय श्री वी० आर० मोहन साहब द्वारा स्थापना हुई है उसका श्रेय श्री सरोज जी को है। आशा है इस महाकाव्य द्वारा लोगों को श्री लक्ष्मण जी की निष्ठा का वास्तविक परिचय मिलेगा।

मैं महाकवि श्री शिवसिंह सरोज जी को बधाई देता हूँ तथा अयोध्या के साधु समाज की ओर से उनके प्रति मंगल कामना करता हूँ। इस महाकाव्य के प्रचार प्रसार के लिए भगवान् श्री जानकी बल्लभ एवं श्री लक्ष्मण जी से प्रार्थना करता हूँ।

वास्तव में इस कृति से श्री सरोज का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा। मर्यादित एवं रामायणानुगत उनकी यह रचना जहाँ साहित्यिकों में उत्साह उत्पन्न करेगी वहीं भक्त-समाज में समादृत होगी।

आचार्यप्रवर स्वामी श्री सीताराम शरण जी महाराज
श्री लक्ष्मण किलाधीश,
अयोध्या

लक्ष्मण महाकाव्य—



शिवसिंह 'सरोज'

काव्योद्देश्य

आदि-कवि वाल्मीकि ने मान्यताओं और मर्यादाओं की स्थापना के संदर्भ में जहाँ भगवान् राम को नेतृत्व अथवा नायकत्व प्रदान किया है, वहीं उनके अभिन्न सहयोगी के रूप में निष्ठा, अनुशासन और आज्ञापालन की दृष्टि से लक्ष्मण के चरित्र को भी भलीभाँति उभारा है।

आदि-रामायण के लक्ष्मण परिस्थितयों से पीड़ित और प्रताड़ित राम के सहचर, सहायक और पथ-प्रदर्शक के रूप में चित्रित किये गये हैं। भारत को आज ऐसे ही निष्ठावान, निस्पृह, अनुशासित और सेवाव्रती युवा कर्म-योगियों की अपेक्षा है। अतएव अब अवसर आ गया है, जब राम-कथा के युगानुकूल प्रस्तुतीकरण द्वारा लक्ष्मण के ओज-तेज, अनुशासन और आज्ञापालन की सद्वृत्तियों का प्रभावी ढंग से मूल्यांकन किया जाय। किन्तु कवि, लेखक अथवा इतिहासकार को सर्वमान्य परम्परागत रामकथा को नवयुग के सन्दर्भ में प्रस्तुत करने से पूर्व अनेक सावधानियाँ भी बरतनी पड़ेंगी, क्योंकि रामायण कोरा ऐतिहासिक ग्रन्थ ही नहीं, हमारी आध्यात्मिक-संहिता भी है। सीतापति राम एक ओर दशरथ के पुत्र और अयोध्या के राजा हैं तो दूसरी ओर अजर-अमर आत्मा के प्रतीक भी। इसी प्रकार उर्मिला-कांत लक्ष्मण राम के आज्ञाकारी अनुज हैं तो आत्मा के सतत सहचर जीव के अवतार भी हैं। दूसरे शब्दों में राम यदि विष्णु के अवतार हैं तो लक्ष्मण शेष के, जिनके सहारे प्रलय काल में भी भगवान् शयन कर सकते हैं।

इस प्रकार रामकथा भारतीय इतिहास, पुराण, अध्यात्म, धर्म, कर्म और मर्म से जुड़ी हुई ऐसी स्वर्णिम सांस्कृतिक शृंखला है, जिसे तोड़ना-मरोड़ना न सरल है न ही समीचीन। यद्यपि आदिकाल से अबतक रामकथा में कवियों और लेखकों ने युगानुकूल अपनी रुचि के अनेक रंग भरे हैं तथापि उन्होंने ऐतिहासिक अथवा आध्यात्मिक मूल रूप को अक्षुण्ण रखा है।

आदि-रामायण का मूलाधार लेते हुए ही संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी कवियों ने रामकथा में नये-नये रंग भरे हैं। इनमें 'भवभूति' का नाम अग्रिम पंक्ति में आता है, जिन्होंने कदाचित् पहली बार महावीर-चरित्र और उत्तर रामचरित्र नामक अपने नाटकों में नाटकीयता लाने के लिए मूलकथा में पर्याप्त परिवर्तन किये हैं, किन्तु पात्रों की मौलिक मर्यादा उन्होंने भी अक्षुण्ण रखी है।

इसी प्रकार भास ने प्रतिमा और अभिषेक में, मायूराज ने उदात्त राघव में व शक्तिभद्र ने आश्चर्य चूड़ामणि में भी कैकेयी और राम को वनबास और बालि-बध के कलंक से बचाने के लिए यत्र-तत्र कथा में कुछ हेर-फेर किया है, किन्तु मूलभाव को नहीं बदला। फिर भी, इस प्रवृत्ति को बढ़ते देख तत्कालीन कुछ कवि और आलोचक सजग हुए, जिन्होंने मूलरूप में परिवर्तन का विरोध कर रामकथा में ही वास्तविक काव्य के अंगों के होने की घोषणा की। आनन्दवर्द्धन ने अपने ध्वन्यालोक में रामकथा में परिवर्तन करने वाले कवियों को सचेत करते हुए लिखा है कि :–

सन्ति सिद्धं रसप्रख्या येच रामायणादयः,
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रस विरोधिनी।

(पृष्ठ ३३५)

आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि 'रामायण ऐसे महाकाव्य में, (जो भावनात्मक रूप से जाति के जीवन में जुड़ गया है,) कवियों को अपनी इच्छानुसार कथा-परिवर्तन न करना चाहिए, क्योंकि इससे प्रतिपादित सदाशय विकृत हो सकता है। आनन्द-वर्द्धन ने इस सम्बन्ध में यशोवर्मन के रामाभ्युदय नाटक को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है।

यशोवर्मन ने स्वयं भी कहा है :–

औचित्यं वचसां प्रकृत्नुगतं सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिस्स्वावसरे रसस्य च कथा मार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुत संविधानकविधौ प्रौढ़िश्च शब्दार्थयो,
विद्वद्भिः परिभाष्यातामवहितैरेतावदेवास्तु नः।

यशोवर्मन ने दावे के साथ कहा है कि 'हमने मूल रामकथा में किंचित् भी परिवर्तन नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि आलोचना के भय से आगे रामकथा में परिवर्तन की प्रक्रिया लगभग समाप्त हो गयी, फिर भी कवियों और लेखकों ने राम के चरित्र को निखारने के उद्देश्य से रामकथा की मौलिकता को यथावत् रखते हुए भी उसमें अन्य अनेक पौराणिक रूपकों और कथाओं का समावेश किया। बंगला के कवि कृत्तिवास और हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने इस दृष्टि से अनुकरणीय उदाहरण स्वरचित रामायणों में प्रस्तुत किये हैं। आधुनिक हिन्दी कवियों ने भी बहुत कुछ आनन्दवर्द्धन की चेतावनी के अनुरूप रामकथा का यथा-तथ्य प्रस्तुतीकरण करने का प्रयास किया। राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण गुप्त ने साकेत में स्पष्ट घोषणा की कि :–

'राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।'
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।'
"मेघनाद वध काव्य" की विपरीत गति

आधुनिक काल में बंगला के यशस्वी कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने "मेघनाद वध काव्य" में रामकथा का मूल रूप ही बदल दिया। दत्त महोदय ने कथा के ऐतिहासिक पक्ष को ही पक्षाघात नहीं दिया वरन् उन्होंने उसके आध्यात्मिक रूप में भी विजातीय तत्व भरने के भरसक प्रयास किये।

हम ऊपर लिख आये हैं कि राम और लक्ष्मण दिव्य दैवी शक्ति-पुंज के प्रतीक हैं। इसी प्रकार रावण और मेघनाद आसुरी कुवृत्तियों के पोषक और प्रचारक हैं।

'माइकेल' ने अपने काव्य के आरम्भ में आदि-कवि बाल्मीकि की बंदना करते हुए भी उनकी रामायण की मूलकथा में मनमाने परिवर्तन कर ऐतिहासिक ही नहीं उसके आध्यात्मिक रूप को भी विकृत कर दिया है। उनकी अपनी कुण्ठा ने रामकथा को भी कुंठित करने का कुप्रयास किया। माइकेल की यह कल्पना अपनी है कि निकुंभिला के याज्ञागार में मेघनाद जब साधु वेश में निरस्त्र हो यज्ञ कर रहा था, वीरवर लक्ष्मण ने छल-बल से उसका बध कर दिया। इसके विपरीत आदि रामायण के अनुसार यज्ञागार को श्रेणीबद्ध सेना से चारों ओर सुरक्षित कर, तब मेघनाद यज्ञ करने बैठा था, जिसे इंगित कर विभीषण रामानुज को परामर्श देते हैं कि :-

यदेतप्रक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते,
एतदायोध्यतां शीघ्रं कपिभिः पादपायुधे।
अस्यानीकस्य महतो भेदेन यत लक्ष्मण,
राक्षसेन्द्र सुतोऽप्यत्र भिन्ने दृश्योभविष्यति।

अर्थात् 'हे महाबाहु अब पर्वताकार राक्षसों की सेना के साथ वानर वीरों को वृक्ष और शिलाएँ लेकर युद्ध करना चाहिए। हे वीर अब आप इस सेना को छिन्न-भिन्न करने का उद्योग करिये, इसके हटने पर ही क्रूर-कर्मा मेघनाद दिखाई देगा।'

बाल्मीकि ने आगे लिखा है कि 'लक्ष्मण द्वारा सेना का संहार देख यज्ञ अधूरा छोड़कर ही मेघनाद उठ खड़ा हुआ। घने वृक्षों के अंधकार से बाहर निकलकर पहिले से ही तैयार रथ पर सवार हो गया।

'स्वमनीकं विषण्णं तु श्रुत्वाशत्रुभिरर्दितम्,
उदतिष्ठत दुर्धर्षस्तत्कर्मण्यननुष्ठिते।
वृक्षान्धकारान्निर्गत्य जात क्रोधः स रावणिः,
आरुरोह रथं सज्जं पूर्वयुक्तं स राक्षसः।

यहां रथ का 'पूर्व-युक्त' होना सिद्ध करता है कि मेघनाद अपनी सुरक्षा और युद्ध की तैयारी कर तब यज्ञ में बैठा था। यही नहीं, वह कवच और शस्त्रास्त्र भी धारण किये हुए था :-

स रथेनाग्नि वर्णेन बलवान रावणात्मजः,
इन्द्रजित, कवची धन्वीसध्वजः प्रत्यदृश्यत।'

आदि रामायण के अनुसार मेघनाद का रथ जब युद्ध में तोड़ दिया जाता था तो वह लड़ाई बन्द करके चुपके से लंका को खिसक जाया करता था। यही नहीं वीरवर लक्ष्मण स्वयं उसे रथारूढ़ होने का अवसर दे युद्ध बन्द कर दिया करते थे। वहाँ से दूसरा रथ ले शस्त्र सज्ज हो फिर लड़ाई के मैदान में आता था। मेघनाद मायावी था। उसके माया-युद्ध का आदि-कवि ने अत्यन्त प्रभावशाली विवरण प्रस्तुत किया है। मेघनाद का माया-मंडित रथ ही उसका बल था। कृत्तिवास के अनुसार जब इन्द्रजित अपने रथ पर सवार होकर समरांगण में आता तो कोई भी सामने न ठहर पाता :—

रथवान शुशोभन विपक्षे जेन
शमन भये केह ना रहे सम्मुखे।

इसके विपरीत माइकेल ने मेघनाद वध काव्य में रामायण की कथा में मनमाने परिवर्तन कर उसके आदर्श को भी उलट कर सफेद को काला और काले को सफेद किया है। भगवान राम की 'मर्यादा पुरुषोत्तम' उपाधि मेघनाद को दे उसे 'पुरुषोत्तम मेघनाद बली' और राम को 'मायावी मानव राम' लिखा है। यही नहीं निकुंमिला यज्ञागार में लक्ष्मण अपने बाहुबल से नहीं, माया-बल से प्रवेश पाते हैं। विभीषण के साथ रामानुज का निकुंभिला-प्रवेश इस प्रकार चित्रित किया गया है :—

'प्रबल मायाय बले, पशिला नगरे वीर द्वय।
दुयार अशनि नादे, किन्तु कार काने पशिल आराव ?
हाय ! रक्षो रथी यत मायार छलने अंध केह ना
देखिला दुरंत कृतांत दूत-सम रिपु द्वय,
कुसुम-राशि ते याहि पशिल कौशले।'

अथवा —

'यथा क्षुधातुर व्याघ्र पशे गोष्ठ गृहे
यमदूत भीम वाहु लक्ष्मण पशिला
मायाबले, देवालये।'

तेजस्वी लक्ष्मण जब सहसा यज्ञारूढ़ मेघनाद के सामने माया-बल से प्रकट होते हैं तो मेघनाद पहले तो चकित हो जाता है, फिर परिचय पाने पर लक्ष्मण को अतिथि बना उनसे इस समय युद्ध न कर अपने को शस्त्र-सज्ज होने का अवसर मांग कर कहता है कि :—

निरस्त्र जे अरि न हे रथि कुल प्रथा
आघातिते तारे ए विधि, हे वीरवर,
अविदित नहे क्षत्र तुमि तब काछे, कि आर कहि बे ?

किन्तु लक्ष्मण उसकी बात न सुन आक्रमण कर देते हैं। तब मेघनाद पूजा-पात्रों के सहारे-ही उनसे युद्ध कर वीर-गति को प्राप्त होता है।

इस प्रकार माइकेल भारतीय इतिहास, अध्यात्म और परम्परा के प्रतिकूल अपने 'मेघनाद वध काव्य' में जहाँ एक ओर मेघनाद के माध्यम से वीरोचित उदात्त भावना का अंकन करते हैं, वहीं तपस्वी और तेजस्वी लक्ष्मण में ओछी अथवा हीन-भावना का आरोपण कर उन्हें लांछित करने का कुप्रयास करते हैं।

माइकेल बाबू में ऐसा विकार कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका भी कारण है। संभ्रान्त हिन्दू परिवार से सम्बद्ध होकर भी उन्होंने अपना व्याह एक ईसाई महिला से किया, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू समाज से वहिष्कृत कर दिये गये। यही नहीं उन्हें बंगाल छोड़ बड़ी कठिन परिस्थिति में मदरास में रह अनेक कष्ट भोगने पड़े। इसकी विकट प्रतिक्रिया उनके मन पर हुई। यौवन के उषाकाल में ही उनकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया।

अंगरेजी सभ्यता और साहित्य में डूबे माइकेल के पैर अपनी भूमि पर आ लगे। होमर, मिल्टन, को छोड़ बाल्मीकि और वेदव्यास के बिंब सहज ही आभासित हो उठे। रामायण और महाभारत का गहन अध्ययन किया तो किन्तु जाति-बहिष्कार का संताप न झेल पाये। मन की कुंठा और प्रतिशोध ने उनके साहित्य और संस्कार सद्वृत्तियों को भी विकृत कर दिया। मेघनाद वध काव्य में उन्होंने आदिकवि को अपने श्रद्धा के सुमन अर्पित करते हुए 'क्रौंच-वध' के प्रसंग को जानबूझ कर उभारा है। परिणय-बंध में बंधे प्राण-पक्षियों के जोड़े को बेंधने वाला व्याध उनकी दृष्टि में बंग-समाज और बिंधने वालों में वे स्वयं थे। इस प्रकार बाल्मीकि के चरण स्पर्श करके भी वे उनके आदर्श को न अपना सके। सद्वृत्तियों पर कुवृत्तियों की नहीं वरन् कुवृत्तियों को ही सद्वृत्तियों के सिर पर चढ़ाने की चेष्टा की। लक्ष्मण को लांछित और मेघनाद को वंदित करने का तात्पर्य मूल भारतीय भावधारा को विपरीत दिशा दिखाना है।

वैर, विभव, विकार और विरोध के हाथों शांति, तप त्याग, सदाशय और सत्य को पिटवा देना है। इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत कुंठा का परिष्कार किये बिना माइकेल बाबू ने अपनी काव्य-प्रतिभा रामायण के सत्य को झुठलाने में ही खपा दी और अन्त में 'आत्म-विलाप' द्वारा उन्होंने पश्चाताप भी किया है।

दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व जब मैंने मूल बंगला में मेघनाद वध काव्य पढ़ा तभी मेरी काव्य-बुद्धि ने वीरवर लक्ष्मण के वास्तविक अथवा शास्त्रीय स्वरूप को व्यक्त करने को व्याकुल हो उठा। आनन्दवर्द्धन और यशोवर्मन के सुझाये पथ पर वाल्मीकि और तुलसीकृत रामायणों को आधार बना 'लक्ष्मण-काव्य' लिखना आरम्भ कर दिया, जो अब पूरा हुआ। किन्तु 'राम-काव्य' के देश में 'लक्ष्मण-काव्य' का नया वातायन बनाने का तात्पर्य केवल 'मेघनाद वध काव्य' को उत्तर देना मात्र नहीं वरन् रामकथा में युगानुकूल

स्पर्श देना भी है। इस दृष्टि से 'लक्ष्मण-काव्य' में भी राम का ही प्राधान्य है। जीव को ब्रह्म अथवा अनुज को अग्रज के सिर पर न चढ़ा उनसे उनके चरणों का ही स्पर्श कराया गया है। बड़े की मर्यादा अक्षुण्ण रखते हुए छोटे को ऊपर इसलिए उछाला गया है जिससे स्वाधीनता का उत्साह उन्माद में न बदले। शासन के आगे अनुशासन का मुख मन्द न पड़ने पाये। नायक के मुँह से कवि भी बोला करता है। अतएव 'लक्ष्मण-काव्य' के लक्ष्मण खुलकर बोले हैं। विस्तार के साथ युग-बोध के स्वरों में। बड़े भाई के सामने छोटे भाई के आक्रोशपूर्ण आलाप का जो अनुशासित रूप मुझे आदि कवि से मिला अथवा 'परशुराम सम्वाद' की वाचालता की जो विभूति मुझे तुलसीदास से मिली वही विस्तार से मेरी काव्य-राशि बनी। वाचालता बालपने का बोध और छोटों का सहज स्वभाव है इसके लिये परशुराम-संवाद अथवा वन-गमन के समय पूज्य पिता पर की गयी कूटक्तियों को लेकर हिन्दी इतिहास में भी लक्ष्मण के साथ न्याय नहीं किया गया। 'हिन्दी-नव-रत्न' में जहाँ गोस्वामी तुलसी दास के राम-चरित मानस के पात्रों के रूप में लक्ष्मण का परिचय दिया गया है वहाँ इन दो प्रसंगों को लेकर कहा गया है कि 'जब स्वयंवरमें जनक ने पृथ्वी को वीर-विहीन कह दिया, तब इन्हें (लक्ष्मण जी को) अमर्ष हो आया। इसी प्रकार राजों की युद्ध-चेष्टा को देखकर भी इन्हें क्रोध आया। राम के वनवाससे इन्हें दशरथ, कैकेयी और भरत पर अत्यंत क्रोध था, यहाँ तक कि स्वयं सुमंत के सम्मुख इन्होंने दशरथ के प्रतिकूल कटु वाक्य कह दिया। और भी–

कहँ लगि सहिय, रहय मन मारे , नाथ साथ, धनु हाथ हमारे ।
आइ बना भल सकल समाजू , प्रगट करौं रिस पाछिलि आजू ।
केकय कहँ पुनि-पुनि मिले, जिय कर छोभ न जाय ।

इनमें चपलता की मात्रा भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। परशुराम से राम के सामने ही लड़ पड़ते थे। इसी प्रकार राम को थोड़ा-सा भी क्रोधित देखकर यह सुग्रीव को मार डालने के लिये उद्यत हो गये। साहसी इतने थे कि कोई कैसा भी बली क्यों न हो, उससे लड़ने प्रस्तुत हो जाते थे। इन्होंने यहाँ तक कह डाला यदि शंकर भी सहाय करें तो भरत को और वैसे ही मेघनाद को मार डालूंगा मेघनाद को इन्हीं ने मारा।'

आदि—कवि ने लक्ष्मण को धीर-वीर और विग्रह अथवा विपत्ति के अवसर पर एक संतुलित परामर्शदाता के रूप में प्रतिभासित किया है। लक्ष्मण परशुराम से लड़े नहीं पड़ते थे वरन् उन्होंने अपने व्यंग्य-विनोद द्वारा भृगुनाथ के दर्प को दबा दिया। (देखिये लक्ष्मण-काव्य)

गोस्वामी जी भी अवसर पाकर एक-ही सांस में अपने इष्ट-देव किंवा काव्य-नायक से भी अधिक धीर-वीर बना देते हैं:–

काल-व्याल बस भयेउ खरारी।
स्वबस 'अनंत' एक अविकारी ॥

माया-युद्ध में मेघनाद ने जब राम समेत समूची वानर सेना को अचेत कर दिया, अकेले लक्ष्मण का ओज आलोकित था, क्योंकि वह अविकारी था। कृत्तिवास ने राम के मुखारविन्दु से लक्ष्मण को सीता-उद्धार का मूल कारण कहलवाया, इतिहास पुरुष के रूप में उनकी श्रेष्ठता सिद्ध की है :–

'मेघनादे मारिया राखिल देवगण,
सीता उद्धारेर मूल हइल लक्ष्मण।"

'लक्ष्मण-काव्य' पूरा हो चुका था तथापि एक अग्रज कवि (माइकेल मधुसूदन दत्त) की बात काटने का संकोच मन में बना हुआ था। इसी बीच एक साहित्यिक समारोह में आचार्य-प्रवर श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक वाक्य कानों में पड़ा, 'कुछ कवियों ने मेघनाद के गुणगान किये हैं, यह उचित नहीं।' उनके इस छोटे से वाक्य ने मन के उस रहे-सहे संकोच को धो मेरे कवि को अपने काव्यादर्श पर सिर उठाकर चलने की सामर्थ्य व शक्ति प्रदान की।

इस प्रकार तपस्वी, तेजस्वी, अनुशासनबद्ध और आज्ञापालक रामानुज लक्ष्मण के व्यक्तित्व और कृतित्व को युगानुकूल उजागर करने के उद्देश्य को ही लेकर 'लक्ष्मण-काव्य' की रचना की गयी है। आदि-रामायण में लक्ष्मण के ज्वलन्त जीवन के विभा विन्दु यत्र-यत्र बिखरे हुए हैं, उन्हीं को आधार बनाया गया है, जिससे ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध न रहे।

'लक्ष्मण' को लखन, रामानुज, सुमित्रा-सुत, अनंत उर्मिलाकान्त, शेष, शेष-तन, शेष-सनातन, धराधर धरती के धारी और धरणीधर तथा मेघनाद को रावणि, वीरबाहु-भ्राता, मन्दोदरी नन्दन, इन्द्रजित और वासव-जेता आदि कहा गया है।

काव्य में अपने युग का आवेश और उन्मेष अपने आप ही यत्र-तत्र सहज रूप में अंकित हो गया है। विश्वामित्र के शस्त्रार्पण, परशुराम संवाद, वनवास पर व्यक्त लक्ष्मण के आक्रोश और तपस्वी वेश में भी शस्त्रास्त्र धारण पर सीता द्वारा व्यक्त धर्म-भीरुता में हिंसा-अहिंसा का संघर्ष, शस्त्रास्त्रों की समाज रचना में उपयोगिता, उनके सदुपयोग और दुरुपयोग तथा नियमन और नियन्त्रण की नीति निर्देशन के वातायन से आज के विग्रहवान् विश्व का बिंब अनायास ही दिख जाता है। कवि की कृति में युग की आकृति स्वतः बन जाती है, बनायी नहीं जाती। इसी प्रकार पौराणिक-प्रकरण को प्रस्तुत करते हुए भी पाठकों को 'लक्ष्मण-काव्य' में बहुत-सी नयी सामग्री भी मिलेगी जो यत्र-तत्र सहजरूप में स्वतः उभर आयी है। भावों के उद्दीपन में कहीं-कहीं छन्द स्वच्छन्द हो गये हैं। प्रवाह और प्रसंग वश दो पंक्तियों

में एक बात पूरी न हो पायी तो चार में कही गयी। यह यदि दोष है भी तो दाल में नमक के बराबर।

तत्सम शब्दों के साथ ही लोक-भाषा के शब्दों का भी सहज रूप में यदाकदा प्रयोग किया गया है। छन्द-रचनानुसार 'लक्ष्मण' को 'लक्षमण' और 'बाणी' को 'बानी' कहने में संकोच नहीं किया गया है।

लखनऊ और लक्ष्मण-काव्य

सन् १९४१ में मैंने नगर-देवता लक्ष्मण जी को जोड़ते हुए लखनऊ पर एक कविता लिखी, जो बहुत लोकप्रिय हुई। वही इस काव्य की मधुमयी भूमिका है। कविता ने भूतपूर्व नगर प्रमुख, संसद सदस्य और समाजसेवी स्व० श्री वेदरत्न मोहन को शेरो-शायरी की महफिल से खींच लखनलाल और लखनऊ का भक्त बना दिया। 'लक्ष्मण' की प्रतिभा की स्थापना में श्री मोहन ने जिस अदम्य साहसिकता और सूझबूझ का परिचय दिया यद्यपि उसे जानने वाले ही जानते हैं तथापि उनका यह कार्य जनमानस पर अंकित होकर मिट न सकेगा। उन्होंने ही फैजाबाद रोड पर 'लक्ष्मण-मार्ग' के प्रस्तर-पट भी लिखवाये। इस काव्य की रचना ऐसे ही पुनीत वातावरण में आरम्भ की गयी। अन्तिम बार लखनऊ छोड़ते समय श्री मोहन मेरे घर पर आ लक्ष्मण-काव्य को पूरा करने पर जोर दे गये थे। वे असमय में ही हमसे बिछुड़ गये, जबकि लक्ष्मण काव्य अब प्रकाश में आया।

ग्रंथ-रचना की देरी मुझे कम मेरे पाठकों को ज्यादा खलती थी। जहाँ-तहाँ भरी सभा में लोग पूंछ बैठते 'लक्ष्मण काव्य' कब तैयार होगा? बंगाली क्लब में रवीन्द्र जयन्ती के अवसर पर एक विद्वान् वंगीय बंधु जब इसी तरह पूंछ बैठे—मैं ग्लानि में डूब गया। ग्रंथ रचना पूरी हुई। ग्रंथ लिपिबद्ध करने में तरुण साहित्यकार सम्मेलन, उसके पदाधिकारियों और उन सदस्यों का भी मैं आभारी हूँ, जिनमें आज अनेक कवि और लेखक बन गये हैं।

ग्रंथ प्रकाशन में सर्वश्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर का प्रयास प्रथम और पायोनियर लिमिटेड का द्वितीय रहा जिससे यह समय से पूर्व सजधज के साथ प्रकाशित हो गया। सुयोग्य चित्रकार श्री योगेन्द्र नाथ 'योगी' ने काव्य ग्रन्थ का आवरण ही नहीं, बल्कि लक्ष्मण जी की मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित १००० ई० पू० पुरानी प्रतिमा की वह ऐतिहासिक प्रतिकृति भी दी जो प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में छापी गयी है।

राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त वाणी के ओज-तेज के सदुपयोग का और कविवर श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' कविता के साथ ही 'काव्य' लिखने का निर्देश मेरे काव्य संग्रह की भूमिका में दे गये थे। 'दिनकर' जी के साथ बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जब

यहाँ राजभाषा आयोग के सदस्य के रूप में आये, उनसे इस काव्य में मार्गदर्शन मांगा तो नवीनजी ने उकसाया :–'मैं 'उर्मिला काव्य' लिख रहा हूँ और तुम 'लक्ष्मण काव्य।' आगे चलकर दोनों का व्याह रचा जायगा।' यही कारण है कि काव्य की नायिका का पद पाठकों को रिक्त-सा लगेगा किन्तु मेरे लिये वह ऐसा भरा भाव बना जो 'उर्मिला' देकर विदा हो जाने के बाद भी स्वर्गस्थ नवीन जी की अर्घ्यांजलि रूप में लक्ष्मण-काव्य अर्पित करने में सक्षम हुआ।

बालापन में ही घर-बार छोड़ धनुष-बाण धारण कर लक्ष्मण दुष्ट-दमन और मृग वध के उद्देश्य को लेकर अपने अग्रज श्रेष्ठ के साथ वनवासी ऋषि मुनियों के आग्रहपूर्ण आमंत्रण पर वीर और वैरागी बन निकलते हैं। मेघनाद-वध क्षतविक्षत हो अग्रज के ही अंक में वासवजित विजयश्री अर्पित कर कृतकृत्य हो जाते हैं। ऐसे युद्धप्रिय कर्मठ, कठोर तपी तथा संयमी जीवन में नायिका की गुंजाइश ही कहाँ ? अस्तु। काव्य का मूल उद्देश्य लक्ष्मण के ओजपूर्ण किंतु अनुशासित विरक्त किंतु वीरतापूर्ण व्यक्तित्व को उजागर कर ऐसे लोकसेवी जीवन का आदर्श प्रस्तुत करना है जो विशिष्ठ न बन सामान्य के साथ समरस हो सके।

शिवसिंह 'सरोज'
१०७ कैन्ट रोड, लखनऊ

भूमिका

बंधुवर, सरोज जी के श्रेष्ठ महाकाव्य 'लक्ष्मण' की यह भूमिका प्रस्तुत करते हुए मुझे अपरिमेय प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस प्रसन्नता का वास्तविक व्यक्तिगत कारण भी है। कम से कम तीस वर्षों से सरोज जी और हम दृढ़ सौहार्द्र के बंधन में बँधे हुए हैं। इसलिये इस भूमिका में वैयक्तिक रागबोधका कुछ अतिरक स्वाभाविक हो सकता था। पर लगातार चालीस वर्षों से साहित्य की समीक्षा, अध्ययन और अध्यापन करते रहने के कारण काव्यास्वाद की प्रक्रिया में अधिक से अधिक तटस्थ रहने के संस्कार बद्धमूल हो गये हैं। इसलिए 'लक्ष्मण' काव्य के प्रकाशन के अवसर पर मेरी यह प्रसन्नता वैयक्तिक नहीं है। वस्तुतः मेरी यह प्रसन्नता सारस्वत प्रसन्नता है, जिसका अनुभव किसी भी सहृदय को किसी ऐसी श्रेष्ठ कलाकृति के प्रकाशन के अवसर पर सहज रूप में होता है, जो विशेष रूप से साहित्य के क्षेत्र के किसी दीर्घकालीन अभाव की पूरक होती है। सरोज जी की यह महनीय कृति इसी श्रेणी की है।

ब्रह्माजी ने आदि कवि वाल्मीकि को रामायण की रचना के उपलक्ष्य में वरदान दिया था :–

> यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
> तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

जब तक इस धरती पर पर्वत खड़े रहेंगे और नदियाँ प्रवहमान रहेंगी, तब तक रामकथा का प्रचार लोक में होता ही रहेगा। विधाता की यह वाणी कितनी सार्थक सिद्ध हुई है! आदि कवि से लगाकर श्री शिवसिंह 'सरोज' तक कवियों की कलाकृतियों की कादंबिनी रामकथा के पीपूंष प्रपूर्ण महासिंधु से पाथेय ग्रहण करती हुई लोकमानस को रससिक्त और आप्त-काम बनाती आ रही है। यह क्रम भविष्य में भी इसी प्रकार चलता रहेगा, यह भी ध्रुव सत्य है। 'रामायन सतकोटि अपारा' कहकर गोस्वामी तुलसीदास ने इसी तथ्य की ओर निर्देश किया है। गोस्वामी तुलसीदास के मानस ने यह सिद्ध कर दिया है कि राम केवल नरादि रूपोंमें ही अवतरित नहीं होते, उनका अवतार वाङ्मय के रूप में भी होता है। यदि मानस राम का पूर्णावतार माना जाय, तो उसके आदर्श और प्रेरणा से भावित कृतियों को अंशावतार कहा जा सकता है। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भगवान् राम के काय व्यूह हैं और हनुमान, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, निषादराज आदि उनके प्रमुख पार्षद

और लीला सहचर। इन सबके सम्बन्ध में कुछ न कुछ काव्य-रचना बराबर होती रही है। भरत को नायक बनाकर 'साकेत संत' जैसे प्रबंध काव्य लिखे जाते रहे हैं। लक्ष्मण को लेकर मुक्तक रचनायें तो अवश्य हुई हैं, पर किसी बृहत् प्रबंध अथवा महाकाव्यात्मक कृति की रचना नहीं हुई, अवश्य 'साकेत' में लक्ष्मण के चरित्र का वैशिष्ट्य उभाड़ा जा सकता था, पर वैसा हो नहीं पाया। गोस्वामी तुलसीदास ने लक्ष्मण के चरित्र की सर्जना राम की कृति-कीर्ति के अधिष्ठान के रूप में की है— "रघुपति कीरति विमल पताका, दंड समान भयउ जस जाका" रामकथा को जान-बूझकर विकृत करनेवाली कृतियों को छोड़कर सबने लक्ष्मण के शील-निरूपण और कीर्ति-गायन में तुलसीदास के ही आदर्श का अनुसरण किया है। सात्विक भाव-विभूति और भक्ति-भावना के स्फुरण की दृष्टि से सरोज जी का 'लक्ष्मण' महा-काव्य तुलसीदास के आदर्श का ही अनुसरण करता है, कहीं-कहीं वाल्मीकि कीयथार्थ निष्ठ दृष्टि के समन्वय का प्रयत्न भी लक्षित होता है। इस काव्य का प्रमुख उद्देश्य काव्य में लक्ष्मण के स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा है। इस दुष्कर कार्य में सरोज जी को सफलता मिली है। इसके उपलक्ष्य में मैं सरोज जी को बधाई देता हूँ और अग्रज के पद से साधुवाद भी।

रामकथा के महान् पात्र लक्ष्मण के स्वतंत्र व्यक्तित्व को राम से पृथक् करते हुए काव्य-साहित्य में उसे उभाड़कर सुप्रतिष्ठित करना एक दुःसाध्य कवि कर्म है। कारण, लक्ष्मण सम्पूर्ण राम-वाङ्मय में राम के अनुयायी किंवा छायामात्र हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने लक्ष्मण के चरित्र के वैशिष्ट्य को इन शब्दों में, साररूप में चित्रित किया है :—

> गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
> जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥
> मोरें सबइ एक तुम स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

ऐसे चरमातिचरम समर्पण में व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता और निजता कहाँ संभव है? यह तो वारिधि में बूंद के समूल विलय की प्रक्रिया है। वारिधि के भीतर से किसी विशिष्ट बूंद को खोजकर उसकी निजता और अस्मिता को प्रतिष्ठित करना किसके वश की बात है? पर सच्चा कवि कभी हार नहीं मानता, रवि के लिए भी दुष्प्रवेश्य स्थानों में गमन करना उसका सहज धर्म है। पर ऐसी सिद्धि कवि को एक-निष्ठ साधना द्वारा ही मिलती है। 'लक्ष्मण-काव्य' ऐसी ही दीर्घकालीन अंतर्मुखी साधना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। सरोज जी के लिए, जैसा मैं उन्हें जानता हूँ, कविता एक प्रकार के कर्मयोग का साधन रही है। उन्होंने राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के गायक के रूप में अपना कवि-कर्म आरंभ किया। किसी विशेष राजनीतिक विचार-

धारा से प्रतिबद्ध हुए बिना उन्होंने दीनों, दलितों, शोषितों और श्रमिकों की वेदना को ऊर्जस्वित अभिव्यक्ति प्रदान की। साथ ही उन्होंने श्रेष्ठ, महान् और उदात्त का अभिनन्दन भी किया। यदि उन्होंने रिक्शेवाले के दर्द और गम को गाया, तो तेनसिंह जैसे जन-सामान्य की भूमिका से उठनेवाले पर्वतारोही को भी अपने काव्य के द्वारा अभिनंदित किया। काव्य-रचना के लिए उन्होंने कभी-कभी निराला जी की लम्बी विवरणात्मक कविताओं से मिलती-जुलती ओजस्वी व्याख्यान-शैली अपनायी, और इसी शैली में कवि-सम्मेलनादि में उन्होंने काव्य-पाठ किया। लखनऊ में रहते हुए उन्होंने लखनऊ के जन-जीवन, उसकी कला, उसकी संस्कृति और उसके इतिहास के साथ, अपने को एकरस बनाने का प्रयत्न किया। इसीलिए मैं यह मानता हूँ कि कविता सरोज जी के लिए कर्मयोग की साधना है। इसी साधना की शक्ति से उन्होंने लखनऊ के आदि संस्थापक लक्ष्मण जी के व्यक्तित्व का रागबोधात्मक साक्षात्कार किया और अपनी कृति में उन्हें एक महान् कर्मयोगी के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल हुए।

'लक्ष्मण' महाकाव्य एक बृहत् प्रबंध है। इसका आरम्भ विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के लिए प्रस्थान करते हुए राम और लक्ष्मण के उदात्त ओजस्वी चित्रण से होता है :--

अवधपुरी तज चले राम औ' लखन संग मुनिवर के,
चलते हैं दो पक्ष लक्ष्य में बँधकर ज्यों दिनकर के।
आगे विश्वामित्र और पीछे दोनों भाई थे।
पहला बल था, ओज-तेज दो उसके अनुयायी थे।
मुनि के संग व्यंग सैनिक बन करता बालापन था,
रामरूप में धर्म, कर्म बन चला संग लक्ष्मण था।

ऊपर की पंक्तियों में अभिव्यक्ति की जो सरलता मिलती है, वह सरोज जी के काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है जिसका निर्वाह इस काव्य में आद्यन्त हुआ है। यह सरलता कवि की सारग्राही वृत्ति और लोक-संग्रही प्रवृत्ति की भी निदर्शक है। 'लक्ष्मण' काव्य के प्रथम सर्ग में अपने समवयस्क सखाओं से घिरे हुए बालक लक्ष्मण के स्वाभाविक भावों की बड़ी सुन्दर व्यंजना की गयी है। यह वर्णन बड़ा स्वल्प और सीमित है, किंतु इससे कवि के वात्सल्य-वर्णन की क्षमता प्रकट होती है। यदि कवि ने वात्सल्य-वर्णन के लिए और अवकाश निकाला होता, तो इस काव्य की रमणीयता और महनीयता दोनों में वृद्धि होती।

इस काव्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है प्राकृतिक दृश्यों का अनुराग भरा सूक्ष्म निरीक्षण। प्रथम सर्ग से ही इस प्रबंध में हमें सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और उसका मनोरम रूप विधान मिलने लगता है। प्रकृति के सीधे-सादे, निरंतर आँखों के

सामने रहनेवाले ऐसे अनेकानेक रूपों का चित्रण सरोज जी ने किया है जो देश के परम्परागत जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। सरोज जी के प्रकृति-वर्णन में स्थानगत विशेषताओं का भी समुचित प्रस्फुटन हुआ है। वन-पथ पर चारों ओर दिखाई पड़नेवाली प्रकृति की साधारण से साधारण और छोटी सी छोटी दृश्यावलियों को भी कवि ने बड़ी आत्मीयता और मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। दिग्गज और दीमक दोनों को ही कवि ने अपने अनुराग के सूत्र में बाँधा है, ऋक्ष और गिलहरी दोनों के क्रिया-कलाप पर कवि ने ममतापूर्ण दृष्टि डाली है :–

काले तीतर मुर्ग बटेरों के समुदाय सघन थे,
दिग्गज से दीमक तक के दल बेसुध और मगन थे।
रीछराज शाखा पर सोये सर मल रही गिलहरी,
कोयल तान छेड़ती सुमधुर सुर भरती सुनबहरी ॥

सरोज जी का प्रकृति-प्रेम लखनऊ के प्रकृति-वर्णन में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। गोमती के वर्णन में कवि ने स्थानीय विशेषता का समावेश बड़ी कुशलता से किया है :–

हनूमान से कहा 'रोक दो रथ पथ सतरंगा है,
अर्धाकार धनुष सी बहती यहाँ आदि गंगा है।
अति उदार जलधार गोमती सहज गतिमती सरिता,
अल्हड़ युवक।युवतियाँ मनहर मधुर भावना भरिता।
एक ओर धरती है जिसके एक ओर धारा है,
दो भागों में बँटा हुआ भावुक भूतल सारा है।
सोंधी माटी सुमन सजीले मीठा नीर नदी का,
रात जहां है चटक सुबह से, प्रात रात से फीका।
बोल उठे सौमित्र' धरित्री की यह धमँधुरी है,
यही पवनसुत लगता मुझको अपनी लखनपुरी है।

किसी-किसी सर्ग के आरम्भ में भी प्रस्तावना के रूप में सरोज जी ने प्रकृति का ऐसा अलंकृत एवं व्यंजक चित्रण किया है जो प्रसंग के अनुरूप मार्मिक तथा प्रभविष्णु पृष्ठभूमि का निर्माण करता है :–

सागर गरजा वानर दल में बोल उठे जय-जय के,
अंधकार में चुभे उषा के तीखे तीर उदय के।
अखिल सृष्टि की कृषि पर पहले का पाला पिघला था,
रामचन्द्र ने किया आक्रमण शौर्य-सूर्य निकला था ॥

सब सर्गों की प्रस्तावना में सरोज जी ने प्रकृति का चित्रण नहीं किया है। फिर

भी प्रत्येक सर्ग में कथा जो मोड़ लेती है, उसका अभिव्यंजन वे चार छै पंक्तियों की प्रस्तावना में तदनुरूप शैली में अनेक रूपों में करते हैं जिससे सर्ग में वर्णित कथावस्तु के महत्व का आभास मिल जाता है।

'लक्ष्मण' महाकाव्य का फलक बहुत विराट् है। उसमें पूर्व रामकथा और उत्तर रामकथा के साथ-साथ लक्ष्मण-चरित्र के अनेक अभिनव प्रसंगों की उद्भावना की गयी है। इसलिए ऐसे महाकाव्य में माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' काव्य की तरह काल-संकलन और स्थल-संकलन की सम्भावना व्यर्थ है। यह महाकाव्य एक अभिनव शैली को उपस्थित करता है। चित्रपट पर प्रस्तुत दृश्यावलियों की तरह लक्ष्मण और राम के जीवन के विविध प्रसंग एक के बाद एक सामने आते-जाते रहते हैं और अनेक रसों और भावों की अवतारणा करते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से इस काव्य की कथावस्तु को पंचसंधि-समन्वित तो नहीं कह सकते, पर रामकथा की अनेक-रूपता के भीतर से लक्ष्मण के चरित्र की महिमा को व्याख्यापित और रूपायित करने के लिए सरोज जी ने जिस प्रकार मार्मिक स्थलों का चुनाव किया है, वह उनके कवि कर्म के अधिकारपूर्ण नैपुण्य का प्रमाण है। इतना ही नहीं प्रबंधकाव्य के इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार वर्णन, भाव-व्यंजना, संवाद आदि अवयवों के उचित समीकरण का प्रयत्न भी इस काव्य में सर्वत्र लक्षित होता है। इतिवृत्त की शृंखला अवश्य जगह-जगह टूटती है, पर कवि ने इस स्थिति को ऐसी कुशलता से सम्हालने का प्रयत्न किया है कि वह काव्यास्वाद में बाधक नहीं होने पाती। अपितु विशेष संवर्धक बन जाती है।

'लक्ष्मण' काव्य का निर्माण वीरकाव्य की मर्यादा के अनुकूल हुआ है। प्रश्न यह उठ सकता है कि इस काव्य को रचना-शिल्प की दृष्टि से किस श्रेणी में रखा जाय? हिंदी में दो प्रकार के वीर-काव्यों की रचना की परम्परा रही है — प्रबन्धकाव्य के साहित्यिक रूप में और वीर गीतों के रूप में। 'लक्ष्मण' काव्य में दोनों शैलियों का उचित समन्वय सम्पन्न हुआ है। यदि यह कहें कि सरोज जी ने हिंदी-प्रदेश के अत्यन्त लोकप्रिय वीर-काव्य 'आल्हा' के शिल्प को अभिनव रूप में प्रस्तुत किया है, तो इस काव्य की रचना पद्धति को समझने में सहायता मिल सकती है। 'आल्हा' काव्य की रचना-शैली अनुपम है। लोक-हृदय में कई शताब्दियों से प्रतिष्ठित इस काव्य के समग्र वैशिष्ट्य और गौरव को सरोज जी ने अपने काव्य में अपनाया है और इसमें अनेक मौलिक तत्वों का संयोजन किया है। परम्परा और प्रयोग का यह मणि-कांचन योग अभि-नन्दनीय है।

हिंदी में वीरकाव्य की परम्परा ने कई मोड़ लिये हैं। आदिकालीन वीरकाव्य में कवियोंने शृंगारको वीर का अंगी बनाया है। यह परम्परा रीतिकाल में भूषण, लाल और

सूदन ने तोड़ी। भूषण ने कोई प्रबंधकाव्य नहीं लिखा, महान् लोकनायक शिवाजी की कीर्ति उन्होंने मुक्तकों में ही गायी। उनके काव्यमें रौद्र, अद्‌भुत, भयानक जैसे रसों का प्रयोग वीर के अंग के रूप में किया गया है। लाल और सूदन ने भी अपने युग के महान् धर्म और राष्ट्र के संरक्षक दो नायक चुने। उनकी रचनाओं में भी शृंगार की प्रमुखता नहीं है। सरोज जी इन्हीं की परम्परा के लोकसंग्रही कवि हैं। उनके काव्य में वीर रस किसी विशेष प्रकार की शब्दावली पर जो परुष वर्णों के संयोजन से उत्पन्न तुमुल नाद-सृष्टि करती है, पर आश्रित नहीं है। उसमें वीप्सालंकार के प्रचुर प्रयोग अथवा वाक्यांशों की अधिकाधिक आवृति द्वारा भी कृति में ओज उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। उसमें युद्ध की भीषणता को चित्रित करने के लिए अनुरणनात्मक अथवा अनुकरणात्मक ध्वनियों का भी संयोजन नहीं है। सरोजजी का वीरकाव्य उत्साह की गहन अनुभूति को ओज-तेजपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करता है। उनकी भाषा भी परुष नाद-संभार का बोझ वहन करने को विवश नहीं की जाती। उत्साह की इस अभिव्यक्ति में इतनी सहजता और इतनी अनेकरूपता है कि वह उन्हें इस युग के वीरकाव्य लेखकों से पृथक् कर देती है और उन्हें उच्चतर स्थान पर प्रतिष्ठित कर देती है। लक्ष्मण इस काव्य में दयावीर, धर्मवीर, दानवीर, युद्धवीर आदि अनेक रूपों में सामने आते हैं। हिंदी वीरकाव्य के इतिहास में सरोज जी का यह कृतित्व एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में स्मरण किया जायगा।

यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जिस काव्य में राम और लक्ष्मण बराबर साथ हों, उसमें लक्ष्मण को नायक के रूप में प्रतिष्ठित करना कठिन सिद्धि है। इस कठिनाई को कवि ने लक्ष्मण को राम के महान् कृतित्व के प्रेरक के रूप में प्रस्तुत कर दूर करने का प्रयत्न किया है। दूसरे ही सर्ग में कवि लक्ष्मण के व्यक्तित्व की रेखाओं को इस प्रकार भास्वर करता है :—

भइया ! मुझे न रुचती यौवन के उठान में नारी,
मन कहता है अन ब्याहे ही उमर काट दूँ सारी।
मुझे न रुचते भीगे लोचन और न लम्बी आहें,
नौजवान के लिए खुली हैं और बहुत सी राहें।

× × ×

वह भी घूँघट पट है उड़ता जो योद्धा के सिर पर,
अरुण ध्वजा बन किसी रथी के रथ के उच्च शिखर पर।
वह भी तो दूल्हा है जिसका मौर सौर मण्डल है,
जिसके इंगित पर प्रतिचालित प्रतिपालित भूतल है।

आरम्भ से ही लक्ष्मण के मन, वाणी और कर्म में वय की दृष्टि से असाधारण प्रौढ़ता है। परशुराम प्रसंग में भी वे प्रगल्भ अवश्य हैं, पर उच्छृंखल नहीं। राम के वनवास के आदेश का वे युक्तियुक्त विरोध करते हैं और विद्रोह के लिए तत्पर हो जाते हैं। छठे सर्ग में कवि ने लक्ष्मण के चरित्र को बड़ी कठोर कसौटी पर कसा है। उर्मिला से बिदा लेते हुए लक्ष्मण के चरित्र की भावभूमिका को कवि ने अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यह सम्पूर्ण प्रसंग भाव-शाबल्य का सुन्दर उदाहरण है। वनवास में लक्ष्मण ने राम के लिए जो चरम त्याग किया, वह कथा किसी साहित्य की परम समृद्धि का निमित्त हो सकती है। कवि ने लक्ष्मण के चरित्र-चित्र की इस विशेषता को बड़ी प्रभविष्णुता के साथ उँकेरा है :–

ज्येष्ठ बंधु धरती पर लेटे उर में ताप छिपाये,
कैसे नींद अनुज की आँखों में बरबस भर जाये ?
तिनके सा तज राज आज भिक्षुक सो भस्म रमाई,
कैसे लगे नींद सोता हो भू पर ऐसा भाई।

भरत के आगमन के प्रसंग में लक्ष्मण अधिक प्रगल्भ हो गये हैं। ऐसी प्रगल्भता वाल्मीकि और तुलसी दोनों के लक्ष्मण में है ? अवश्य, उनकी यह प्रगल्भता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है,जब कि वाल्मीकि ने उनके विषय में लिखा है कि लक्ष्मण बहुत बोलने में समर्थ होते हुए भी बहुत कम बोलते हैं--'शक्तो न बहुभाषितः। तुलसी के लक्ष्मण के बोलने के प्रसंग बहुत गिने-चुने हैं। इनकी तुलना में सरोज जी के लक्ष्मण बहुत अधिक बोलते हैं। किंतु सरोज जी ने लक्ष्मण की इस प्रगल्भता को उनके कर्मयोग का अभिन्न अंग बना दिया है, शरीर और मन के तप के साथ यह प्रगल्भता एक प्रकार से उनकी वाणी का तप गौरवशाली है। प्रगल्भता में भी उनका विवेक सतत जागृत है। इसलिए उनकी उक्तियाँ हमारी बोधवृत्ति का उन्मेष करती हुई अनुभव जगत् के अनेकानेक ग्राह्य तत्वों का स्पर्श करवाती हैं। इस प्रकार उनकी सूक्तियाँ कभी-कभी भारवि और तुलसी का स्मरण करा देती हैं। सीता के वियोग में विकल राम के प्रति लक्ष्मण का निवेदन इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। सुग्रीव के उद्बोधन के प्रसंग में भी उनकी उक्तियाँ सारगर्भित विवेक की प्रौढ़ता का प्रमाण है। परम संयमी लक्ष्मण के चरित्र को परिणति भी कवि ने इन शब्दों में चित्रित की है :–

परखा मैंने निरालंब आकाश नील फैला सा,
निरखा नहीं कभी भिक्षापट मर्दित मटमैला सा।
मैंने पायी प्रति पुस्तक में मानवता गीता सी,
जग में केवल एक उर्मिला हर नारी सीता सी।

मैंने देखा नहीं तार को पकड़ा सुमधुर सुर को,
आभूषण में अब तक निरखा नारी के नूपुर को।

लंका के युद्धक्षेत्र में लक्ष्मण का व्यक्तित्व पूर्ण उत्कर्ष पर है। उनके द्वारा मेघनाद के वध के प्रसंग को कवि ने बड़े मनोयोग पूर्वक लिखा है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'मेघनाद वध' काव्य में अपनी सारी शक्ति राक्षस राजवंश के उत्कर्ष-वर्णन में लगा दी है। इसे साहित्यिक वाम मार्ग कहा जा सकता है। सरोज जी का 'मेघनाद वध' वर्णन का प्रसंग बहुत संतुलित है। लंका-विजय के पश्चात् लक्ष्मण के चरित्र के अन्य गुण भी उद्‌घाटित किये गये हैं और उनके द्वारा लक्ष्मणपुरी की स्थापना का वर्णन किया गया है। इस प्रकार लक्ष्मण को एक महान् कर्मयोगी के रूप में सफलता के साथ इस काव्य में चित्रित किया गया है। कर्मयोगी लक्ष्मण के चित्र की रेखायें बहुत पुष्ट और भास्वर हैं। इनमें सरोज जी ने अनेक रंग भरे हैं। कर्मयोग का जो मानदंड भगवान् कृष्ण ने गीता में निर्धारित किया है, लक्ष्मण त्रेतायुग में ही उसका आदर्श रूप प्रस्तुत कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने लक्ष्मण के मुख से निषादराज को गीता का उपदेश दिलवाया है, सरोज जी के लक्ष्मण ने उसे अपने आचरण और व्यवहार में कार्यान्वित किया है।

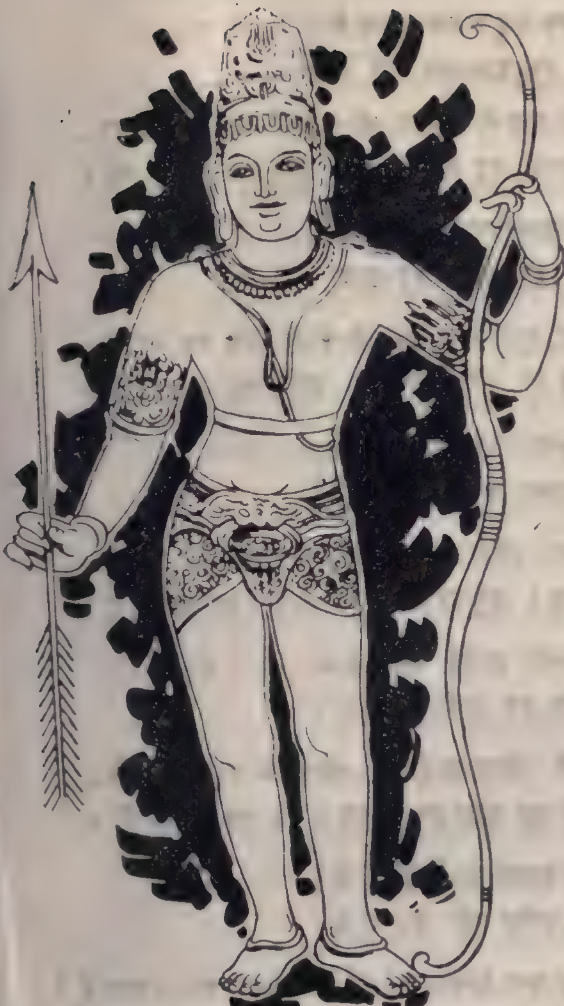
कर्मयोगी लक्ष्मण के चित्रण में कवि की भावना का प्रसार बड़ी ओजस्वी और प्रवाहपूर्ण शैली में अभिव्यक्त हुआ है। भावना के अपेक्षाकृत अधिक प्रसार को अभिव्यक्त करने के लिए सरोज जी ने कवित्त छन्द का भी उपयुक्त प्रयोग किया है। भावना के इस प्रसार में कवि की भक्ति-भावपूर्ण चित्तवृत्ति भी यथास्थल लक्षित होती है। कदाचित् भक्ति के बिना ऐसी कृति की रचना सम्भव नहीं। कुल मिलाकर 'लक्ष्मण' महाकाव्य रामकथा ही तो है। 'हरिहर पद रति मति न कुतरकी, तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुवर की।'

आधुनिक युग पौरुष प्रधान है। सरोज जी ने आधुनिक युग की अभीप्सा और अर्हता का लक्ष्मण के पौरुषपूर्ण व्यक्तित्व और चरित्र में संमूर्त्तन किया है। काव्य का पौरुषपूर्ण प्रवेग इतना उत्कट है कि उसमें किसी नायिका का स्वतन्त्र प्रभावपूर्ण अस्तित्व निर्मित ही नहीं हो पाता है। उर्मिला और सीता इसमें हैं अवश्य, पर उनमें से किसी का कर्तृत्व उन्हें नायिका-पद का अधिकारी नहीं बना पाता। तात्पर्य यह है कि सब नारी-पात्र गौण स्थितिवाले हैं, नायिका-पद की प्रमुखता किसी में नहीं। यदि कोई कहना चाहे, तो इसे नायिकाविहीन काव्य भी कह सकता है। मैं इसे एक अभिनव स्वस्थ प्रयोग मानता हूँ। इसीलिए इस काव्य में वीररस की ही प्रधानता है। संयोग श्रृंगार का प्रसंग कवि कहीं नहीं उभाड़ता। वियोग श्रृंगार के प्रसंग अवश्य मार्मिक बन पड़े हैं। गिने-चुने साम्यमूलक अलंकारों का सुन्दर प्रयोग

कवि ने किया है। चमत्कार-विधायक अलंकारों के प्रयोग की रुचि और प्रवृत्ति कवि में नहीं है।

यह कहना अयथार्थ नहीं है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारा कवि-कर्म उत्तरोत्तर विपथगामी अर्थात् सामाजिक प्रतिबद्धता से विमुख होता गया है। संत्रास, कुंठा, रुग्ण कामचर्या आदि व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ उसकी प्रमुख उपजीव्य बन गयी हैं। ऐसी स्थिति-विशेष में 'लक्ष्मण' जैसे महाकाव्य का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह कृति समसामयिक काव्य को वैयक्तिक कुंठाओं के दलदल से उबार कर लोक-सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित करती है। 'लक्ष्मण' महाकाव्य अपनी समग्रता में जीवन के विस्तृत चित्रपट से हमारा परिचय कराता है। जीवन की गहराइयों और अनेकानेक मर्मच्छवियों के साथ उसके माध्यम से हमारी जानकारी और अंतरंगता बढ़ती है। उसके द्वारा हमारे राग और बोध दोनों का विस्तार होता है। उसमें तीव्रता, गहराई व्यापकता आदि सभी अभीष्ट गुण हैं। अतीत की सांस्कृतिक उपलब्धियों पर आधारित होते हुए भी यह कृति आधुनिक युग के संघर्षशील जीवन से विच्छिन्न अथवा असंपृक्त नहीं है। कथा प्राचीन होते हुए भी समसामयिक विविध संदर्भों के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने में सफल होती है। यह कृति आदर्श और यथार्थ दोनों भूमियों पर समान सुकरता से संचरण करती है। यह कृति सभी दृष्टियों से अपने युग का सफल प्रतिनिधित्व करती है। अतएव, इस भूमिका द्वारा 'लक्ष्मण' काव्य के अवतरण का अभिनंदन करते हुए मुझे परम आत्मतोष का अनुभव हो रहा है।

(डा०) कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह



प्रथम सर्ग

अवधपुरी तज चले राम औ लखन संग मुनिवर के,
चलते हैं दो पक्ष लक्ष्य में बंधकर ज्यों दिनकर के।

आगे विश्वामित्र और पीछे दोनों भाई थे,
पहला बल था, ओज-तेज दो उसके अनुयायी थे।

मुनि के संग व्यंग सैनिक बन करता बालापन था,
रामरूप में धर्म, कर्म बन चला स्वयं लक्ष्मण था।

जप तप विद्याध्यन आदि में जो बाधक बनते थे,
करते अशिव और शिव के जो आराधक बनते थे।

उनके वध के हेतु नियम बन सेतु सबल संयम के ,
चले अहेरी बनकर सहचर मृत्युपाश-धर यम के।

लक्ष्मण के मन में उमंग थी वनका गमन मधुर था ,
तीर चलाने का जब से आये मुनि कर आतुर था।

सहसा 'लखनलला' उड़ता यह सामूहिक स्वर आया ,
बढ़ते हुए बाल अंकुर पर पड़ी यथा बट-छाया।

रुके लखन, मुनि राम बढ़ गये दोनों निज पथ पर थे ,
अनुज खड़े हो गये चतुर्दिक उनके सब सहचर थे।

'हमें छोड़कर तोड़ मित्रता सूना कर हर घर को ,
बोला सखा-समूह 'साथ तज लक्ष्मण चले किधर को' ?

लखन-लला बोले 'अग्रज की अनुकंपा ही बल है ,
सहचर-वृन्द ! अनुकरण उनका करना व्रत केवल है।

अवधपुरी की सुषमा तुम सब का सस्नेह समर्थन,—
हो जिस पथ में उसकी अथ-इति वन जाती आकर्षण।

जाता हूँ मैं ज्येष्ठ-बन्धु के बलि-पथ का वन राही ,
आज न मैं वह सखा सरल, अब बांका लखन सिपाही।

दृढ़-व्रत तुम भी रुदन कर रहे बाला सा बिछुड़न में ,
व्यक्ति तुम्हें बलि से प्रिय है तो भक्ति नहीं लक्ष्मण में।

और सुमुख तुम सिसक रहे हो शिशुसा, क्या कारण है ?
कुछ दिन का विछोह बलि-पथ पर सब दिन और मिलन है।'

हंसकर चिबुक पकड़कर तनकर बोले लखन सुमन से ,
'तुम भी आज अनमने से हो अपने सखा लखनसे।'

धनुष टेक पाषाण स्तंभ पर हंसते किन्तु भरे से ,
आगे बढ़े अनुज राघव के वृषभ-स्कन्ध उभरे से।

भरकर भुज तब रामानुज ने आलिंगन कर क्रम से ,
धनुष उठा कर सबल स्कन्ध पर संभल गये संभ्रम से।

देखा दूर अलग अग्रज के थी मुस्कान अधर में ,
जो कहती थी सैनिक बनकर विलम न जाना घर में।

तुरत चले जैसे चुंबक से खिचकर बढ़ता अय है,
लखन लाल के उर में केवल भक्ति और कुछ भय है।

दौड़ा बाल-बांकुरा सैनिक, गिरा तीर जो श्लथ था,
यह असमंजस भाग रहा मन पकड़ रहा पग पथ था।

पर दृढ़ मन के साथ चरण भी चलते हैं मन मारे,
जैसे चलते हैं गति की इंगित पर नभ के तारे।

'सुमन' और 'दृढ़-व्रत' आंखों से पोंछ अश्रु के जल को,
दौड़ पड़े लेकर च्युत शर को देने सखा सबल को।

मुस्काते मुनि रुके, राम भी हंसते हुए अधर में,
लखन लाल की सहचर-सेना की थे खोज खबर में।

अनुज सखा के सिर पर कर धर कहा राम ने 'वन को,
जाते हैं मृगया को लक्ष्मण दुखी करो मत मन को।

तुम्हें वर्म-वर बाघम्बर के औ' मृग चर्म बहुत से,
लाकर देंगे लखन, लगोगे तब तुम सैनिक-सुत से।

जैसे देखो मेरे कटि पर परिकर पुष्ट बंधा है,
जिस में तरकस और तेग ग्रन्थित हो सहज सधा है।

कर में गोह चर्म आवेष्ठित सर पर त्राण धरा है,
धनुष संग तूणीर-तीर से, बल से हृदय भरा है।

इसी तरह तुम सब सैनिक बन लक्ष्मण संग खेलोगे,
जाने दो, बिछोह सहचर का तुम न अधिक झेलोगे।'

और सुमन के दे कपोल पर थपकी मधुर मलय सी,
खिला दिया मुख-सुमन नीति ने भावुकता पर जय की।

हंसते वापस गये सखा सब लखन बढ़े तब वन को,
जैसे बढ़ता यान वेग से पीछे कर जल-कन को।

धीरे धीरे बीत गया पथ और लगा वन दिखने,
और लगा रवि-रश्मि तूलि से चित्र विभा के लिखने।

पहले कुछ झुरमुट पलास के आस पास मिलते थे,
इधर-उधर दो एक साल तरु तनिक-तनिक हिलते थे।

ज्यों-ज्यों बढ़ते गये विपिन भी त्यों-त्यों हुआ सघन था ,
चारों ओर प्रकृति के पट पर बट थे सुन्दर बन था ।

लता वृक्ष से खेल रही थी तृण तरु को तकते थे ,
और यत्नसर्वत्र खुले खग नीड़ों को ढकते थे ।

धरती पर बन-भूमि शिखर पर हरियाली छहरी थी ,
वायु सुरभि सिंचित सरोज-वन-भूषित जल-लहरी थी ।

प्रातः हरित, वितान विमोहित, हंसती दो-पहरी थी ,
जग की जागृति और सरसता जंगल में ठहरी थी ।

वकुल साल-कुल-संकुल धरणी, ताल कमल-दल-मण्डित ,
बैठे बांच रहे पुरइन पर मधुर गीत मधु-पण्डित ।

मृगी, मृगा के मुख से मुख में तृण दल खींच रही है ,
शिखी मयूर पिया के पखनों में दृग मीच रही है ।

काले तीतर मुर्ग बटेरों के समुदाय सधन थे ,
दिग्गज से दीमक तक के दल बेसुध और मगन थे ।

कुरबक कुसुम कदम्ब कंदली उटज अशोक अड़े थे ,
वन्य जन्तुओंके संरक्षक तरु वर तने खड़े थे ।

रीछ राज शाखा पर सोये सर मल रही गिलहरी ,
कोयल तान छेड़ती सुमधुर सुर भरती सुन-बहरी ।

नाच रही सुमनों पर श्यामा खेल रहे खंजन थे ,
प्रकृति नटी का नाटक जिसके अभिनेता पशु-गन थे ।

सघन-विपिन के बीच कहीं थे हरित दूब के आंगन ,
हिरन कुलेलें करते जिनमें चरते चारु मुदित मन ।

लगता था उल्लास हास बन कर, बन में बिखरा हो ,
या कि नील-मणि-मण्डित तट से सट कर नीर हरा हो ।

स्तब्ध, मुग्ध मधुदृष्टि सृष्टि की अपलक लगी हुई थी ,
यह हरितिमा मुकुल मधुरिमा में मिल पगी हुई थी ।

सहसा हिले दूर तक तिनके रव गूंजा खगकुल का ,
फटने लगा किसी पग से लग कर मन तृण संकुल का ।

निविड़ विजन गर्जन से सहसा नभ मण्डल सा घहरा ,
लगता था घनघोर निशा में लगा किसी का पहरा ।

पत्ते झरे जीर्ण जड़ सिहरे गूंज गगन तक छायी ,
गमकी गिरि कंदरा धरा भी भय-रव से थर्रायी ।

चला विपिन का विप्लव कारी, राह सभी ने छोड़ी ,
उसे न था आभास कि सबने सांस सहम कर तोड़ी ।

पक्षी उड़े पताका फहरी कीर्ति गगन तक छायी ,
और सिंह ने तन कर ली फिर ओज पूर्ण अंगड़ायी ।

लगा तिमिर के रुद्ध द्वार को चीर तेज वपुधारी–
ने अपने ज्योतिर्शर छोड़े उड़ी ज्वलित चिनगारी ।

ओज, तेज, सामर्थ्य शक्ति का तना प्रतीक प्रबल था ,
जिसके साहस पर कितनों की सांसों का संबल था ।

जंगल का राजा फिर गरजा, प्रजा गर्व से फूली ,
कपटी कुटिल डरे वन-कुक्कुर हो मत हुकुम उदूली ।

सबके विनत बने नख कुंठित भूलूंठित शाखा-मृग ,
और आश्रितों के नत मुख को भांप रहे थे दो दृग ।

'देखो वह, उंगली उठा के दूर कुंज ओट ,'
बोले विश्वामित्र यही सिंह मृगराज है ।

रोष में सदोष गजराज को चटाता धूल ,
भूल के भी अन्यथा न करता अकाज है ॥'

राम रहे देखते मुदित मधु-दृष्टि डाल ,
सोच रहे लक्ष्मण हाथ लगा आज है ।

'ना! ना!!' कहा शिष्य की कमान छीन कौशिक ने ,
'बन-राजि विधवा जहाँ न बन राज है ॥'

अवधपुरी से दो योजन आगे आ गये पथिक थे ,
शान्त हो रहा था वन-वैभव रवि भी श्रान्त अधिक थे ।

सरयू बायीं ओर विकल थी, आगे गंगाजल था ,
अगल-बगल वन, वारि बीच में चलना नहीं सरल था ।

स्तब्ध वायु, दिनमान बुझा-सा वातावरण विमल था,
कुछ कुछ सरदी बढ़ी ताल में सिकुड़ा हुआ कमल था।

यज्ञ-धूम से रंजित तरुदल जो लपटों से हिलकर,
शान्त हो चुके हैं संध्या की करुण कान्ति से मिलकर।

जोह रहे पथ उन पथिकों का जो तप को निकले हैं,
जो जन प्रण के वीर लखन से तन मन के उजले हैं।

मुग्ध स्निग्ध चितवन में जिनके चित्रित शान्त समन्वय,
प्रकृत-पुत्र जो युवक जरा-जित शत्रुंजय मृत्युंजय।

उड़ती है सुगंध द्रुम हिलते पवन यहाँ पावन है,
बोले विश्वामित्र 'शिष्य यह महादेव का बन है।

यह जो बट के निकट कुण्ड है सम्मुख मखशाला है,
रति-पति की भस्मावृत स्मृति में यह अब तक काला है।

यहीं परशुधर ने तप करके अर्जित किये सुफल थे,
रुद्राश्रम यह उनका तप-वन जो जन स्वस्थ सबल थे।'

रुके महामुनि, मनु के वंशज शान्ति और सुस्थिर थे,
वन को सहित कुतूहल पल-पल देख रहे फिर-फिर थे।

थके चरण, लोचन में सिमटी थी थकान की लाली,
मुनि ने कहा शयन को, छिटकी बन में रात उजाली।

कुश-शय्या पर राजमहल के लेटे राजकुंवर थे,
लगता दुर्बल-वृत्ति दबाकर ओज-तेज ऊपर थे।'

ब्रह्मकाल सित-खण्ड सुबह के लगे ज्योति में बहने,
गुरुवर उठे और श्रुति-स्मृति को लगे जोर से कहने।

प्रातः की नित मलय-समीरण नियमित क्षण पर आई,
लखन उठ पड़े राम ले रहे थे अब तक अंगड़ाई।

धनुहीं उठी लखन की प्राची ने ज्योतिर्शर ताने,
पूजा वंदन के हित तत्क्षण चले सुमन दल लाने।

राम और मुनि स्नान ध्यान में इधर समय से रत थे,
उधर अकेले मन में लक्ष्मणके विचार उन्नत थे।

'लघुता भी मर्यादित जग में अपनी एक कड़ी है,
समझो तो छोटी है यों सोचो तो बहुत बड़ी है।

लघु तिनकों पर ही ठहरें हैं अश्रु नीर रजनी के,
मंत्र-पूत लघु बूंद बहुत हैं उत्तम आचमनी के।

मेरा सिर है जिस पर थिर वह उनका कीर्ति कलश है,
ज्येष्ठ बंधु के बल पर ही आधारित सर्व सुयश है।,

आये लखन जहां मुनि, रघुवर पूजन को तत्पर थे,
लगता था वैराग्य, विभव के बीच भाव-भूधर थे।

नाप रहे थे दोनों जिसकी ध्यान-मग्न हो दूरी,
उधर लखन मुस्कान सुमन से भर कर अर्घ्य-अंजूरी;

ममता के नियमन में आकर स्वयं रहे थे नप से,
श्रद्धा-पूरित हृदय साथ ले हाथ रहे थे कंप से।

हंसे राम बोले 'लक्ष्मण तुम सत्य भाग्यशाली हो,
रुद्राश्रम के सधे तपस्वी तुम हो, बलशाली हो।

जय हो जियो ज्योति लेकर के जग के तिमिर सघन में,
अग्रज के अनुशरण चरण ये चमकें जीवन रण में।'

दिनचर्या से मुक्त पथिक चल पड़े सघन तर वन में,
और अधिक उत्साह समुद उमड़ा सहसा लक्ष्मण में।

स्तब्ध विहग रव वन राघव को लगा निपट निर्जन-सा,
अस्थिपुंज अवशेष अघोरी के कुत्सित आंगन-सा।

'सिद्धाश्रम यह विष्णु जहाँ तप करके तब निखरे थे,'
बोले विश्वामित्र 'यज्ञ के घृत से कुंड भरे थे।'

यहीं रजनिचर कुल संकुल आकुल करता मुनिजन को,
कंटक रोक रहे हैं खिलने से साधना सुमन को।

लखन हंसे, मन ही मन बोले, 'तपबल भी आधा है,
जब उसको खण्डित कर सकती पल भर की बाधा है।

नर का अनुष्ठान भू पर क्या कोई मेट सका है,
शक्ति साधना की संसृति में कौन समेट सका है?

किसने गहा परशुधर का कर बल हजार हाथों का,
अस्त हुआ इतिहास शृंग है भूलुंठित माथों का?

खण्डित नर मुण्डों से अंकित कलि की कलुष कहानी',
कहा सुमित्रा सुत ने 'जीवित जो प्रचण्ड है प्राणी।

जिसके उर में अनल, शक्ति की उसमें ही साकल है,
बड़ा बन्दना से वसुधा में वीर पुरुष का बल है।

अगम सिन्धु आराध्य और दुर्गम हिमशिखर सबल है,
क्योंकि मनुज के मापदण्ड से लघुतर ही निर्बल हैं।

बड़ा कमण्डल से धनुमण्डल बलि से विशिख प्रखर है,
सबल साधना से समिधा से शोणित है संगर है।

क्रोध मनुज के बल की सीमा है पौरुष का प्रण है,
जीवन पथ पर बढ़ा व्यक्ति का वह आग्नेय चरण है।'

'किन्तु रोष रचना पथ पर शूरता न, दुर्बलता है',
बोले मुनि निष्कंप दीप ही द्युति लेकर बलता है।

अग्नि यहाँ भी उर में अर्जित औ' बाहों में बल है,
जिसका प्रकटी-करण सहज है विष का वमन सरल है।

किन्तु साधना एक लक्ष्य को लेकर ही जलती है,
तप बल की चेतना अकेली उर बल पर पलती है।

हम तपसी तिल-तिल तप करके मन से बने सबल हैं,
किन्तु तन्तु उर के क्रोधानल में पड़ जाते जल हैं।

तब चेतना शून्य सहृदयता रह-रह अकुलाती है,
अन्तर्बलि नागिनि-सी व्याकुल होकर बल खाती है।

अतः अस्त्र उसका भूषण जो राज-पुत्र क्षत्रिय है,
घर में नहीं समर में जिसको प्राण-विसर्जन प्रिय है।

क्रूर तभी तक क्रान्त शान्ति के शूर नहीं जब तक हैं,
बड़े-बड़े विकराल, वीर के आगे नत मस्तक हैं।

स्वागत योग्य युद्ध योद्धा का जिसमें जन-मंगल है,
साधन स्वस्थ साध्य सुस्थिर है तो साधना सफल है।

उसका ध्वंस धवल उतना है जितनी उजली कृति है,
रामानुज, रचना प्रधान है सर्जन ही संस्कृति है।

'क्रान्ति की चरम परिणति शान्ति का प्रसार',
बोले गाधि सुवन 'तरल तापमान है।

सूर्य की ज्वलित स्फीत रश्मियों का अन्त शीत,
ऊँची उठ बड़वागि वारिद समान है।'

और फिर अपने कमण्डल से जल छोड़,
कहा 'देखो दहन शिखा का समाधान है।

अनल किरीटवान होगा कहीं अन्य धन्य,
अपने यहाँ तो कहलाता हिमवान है॥'

इतने में ही हिले वृक्ष कुछ पग ध्वनि पड़ी सुनायी,
अंधकार का छोर पकड़ कर जैसे आँधी आयी।

सर-सर स्वर मर-मर पत्तों में वन में बदली छायी,
अट्टहास करती तृण तरु को तोड़ ताड़का धायी।

वज्र दन्त नख दृग में दूषण तो भूषण नर सिर के,
दनुजसुता आती, छिप जाती बादल सी घिर-घिर के।

ज्योतित नभ से लगा बरसने तिमिर, तुमुल गर्जन था,
पल भर में ही अस्थि रुधिर मय पावन वन आंगन था।

समिधा छोड़ अलग मुनि गन सब आँखें बन्द किये थे,
निविड़ निशा भ्रम, पवन पराक्रम तक निस्पंन्द किये थे।

विश्वामित्र अलग उन्मन थे, राम लक्ष्य पर नत थे,
और लखन अपने तरकश से तीर चयन में रत थे।

पहला बाण राम के धनु का सुन्द-प्रिया पर छूटा,
और समझ लो यहीं रजनिचर कुल का कौशल टूटा।

तीरों से भर वदन-विवर रघुवर ने शीश घुमाया,
और लखन का तीर चीरता हुआ तिमिर-तल आया।

कौतुक प्रिय श्री राम अनुज ने भुज कौशल दिखलाया,
श्रवण- नासिका–हीन ताड़का को कर विकृत बनाया।

हंसे राम मुनि लगे मूँदने लोचन दृश्य न प्रिय था,
तप तड़ाग में वंशी बलि की खेल रहा क्षत्रिय था।

श्रवण-नासिका-हीन मलिन मन रजनिचरी उल्का सी,
टूट पड़ी रघुवीर लखन पर मनुज रुधिर की प्यासी।

गरज उठे मुनि किन्तु शान्त हो गया विलोड़ित हिय था,
ब्राह्मण मन में किन्तु नयन में धधक उठा क्षत्रिय था।

बिहंसे राम गूढ़ आशय की रेख-रश्मि मुख पर थी,
कौतुक प्रिय की आतुरता कुछ करने को तत्पर थी।

लखन नयन आदेश चयन को उन्मुख थे आतुर थे,
और इधर मरणोन्मुख सबके सब उन्मत्त असुर थे।

सहसा इसी समय रघुवर का तेज तीर बन छूटा,
और ताड़का का जीवन घट रण-पनघट पर टूटा।

उधर हुआ संकेत, इधर लक्ष्मण के शर विषधर-से,
भर करके हुंकार चले ज्यों चलते स्रोत शिखर से।

चुन-चुन कर सौमित्रि शूरमा ने अरि के सिर काटे,
समिधा-कुण्ड-समूह मुंद गये झुंड-झुंड सिर पाटे।

क्षत्रिय का मख मृत्यु कि जिसमें नित आहुति लेती है,
रुधिर वमन घृत, अरणि धरणि, च्युत शर की द्युति देती है।

जिसमें जलता है यज्ञानल ओज-तेज के तप का,
कानन नहीं दमकता कौशल आनन के आतप का।

मुनि के मख की क्रान्ति शान्ति पर जिनकी आधारित है,
जिनकी आदि शक्ति समिधा में सीता बन वारित है।

स्वेद-बिन्दु राघव के आनन के लक्ष्मण के मुख से,
लगता था कुछ आंक रहे थे उन्नति को उन्मुख से।

निर्मल हंसी गाधि-सुत-गुरु की शिष्य-वृन्द का कौशल,
झलक उठा था जिसमें बनकर यज्ञानल जन-मंगल।

सुमधुर चली बयार विपिन की विकसी कली कली थी,
बाल-बांकुरों की जय-श्री ज्योतित पहली-पहली थी।

लक्ष्मण ने अग्रज के भुज का भार अचानक तोला,
पहले-पहल हलाहल भर कर शर बन चला संपोला।

जिसकी छू फुफकार प्रलय भी पीली पड़ जाती है,
विधना के विधान की डोरी ढीली पड़ जाती है।

अग्रज का अनुभव, अनुशासन और अनुगमन वन में,
समा गया बन तेज चमत्कृत लक्ष्मण के आनन में।

श्रद्धा का सद्भाव उषा-सा उर से विकल बहा था,
चमक उठी मुख ज्योति उजाला जिससे निकल रहा था।

विश्वामित्र चले सिद्धाश्रम के पथ में आतुर से,
बजी विपिनमें विमल विजय-श्री रण-कंकण-नुपुर से।

सैनिक का सहयोग शान्ति से उदय हुआ बन रवि था,
और उस समय कहीं प्रथम पद रुचिर रच रहा कवि था।

ओज-तेज का छन्द बन्द उर पट को खोल रहा था,
युग के प्रथम चरण की गति को मति से तोल रहा था।

अगरु धूप, अक्षत दूर्बादल, चन्दन, वन्दन के स्वर,
बोल रहे थे—यह आश्रम है ऋषि-मुनियों का सुन्दर।

खग-मृग, पशु-पाषाण, अचेतन-चेतन तन जितने थे,
निर्भय औ, निर्वैर निरालस रस से सने बने थे।

विषधर विषम, सुधाधर सम था, विष आशिष देता था,
कंटक भी कुंकुम की लिपि में मंगल लिख देता था।

अपने आश्रम में आकर के ऋषिवर स्वस्थ हुए थे,
लखन लगे दैनिक कृत्यों में राम तटस्थ हुए थे।

संध्या का सोमासव पलकों में सहमा-सहमा सा,
तनिक-तनिक कर ऊंघ रहा था उतरा अलस धुंआ सा।

हरित विजन का वर्ण स्वर्ण बन करके श्याम हुआ था,
झरनों का जल बादल-सा धुंधला जड़ जाम हुआ था।

मुनि निद्रालस में रत होकर अभिमत थाम रहे थे,
बाल-बांकुरों के उर अवयव खोज विराम रहे थे।

गुरु के पद पाथोज पकड़ कर चाप रहे निःस्वन थे,
राम, हुए निद्रावश तब भी, जाग रहे लक्ष्मण थे।

अग्रज के रज-भूति-विभूषित पावन चरण कमल पर,
भुज थे लगे अनुज के जैसे जगे सुमन द्रुम-दल पर।

लखन विमल मल चरण राम के पूर्ण काम हो सोये,
और निमिष युग जोड़ रहा था अपने सपन संजोये।

निद्रालस निःश्वास विमल ब्रह्मर्षि और क्षत्रिय के,
पवन पराग तुल्य मिलकर के हुए प्रवाहित प्रिय थे।

सबल संधि यह रण, कौशल की और शान्ति संयम की,
तप तेवर का मेल झेलती झंझा राख गरम की।

जिसको मल कर निकल पड़ा करता दुर्बल दुर्धर-सा,
जन-मंगल-घट, जिससे मंज कर बनता और प्रखर-सा।

जिसमें नव-जीवन का अमृत, युग, विधि से भरता है,
जिसे पिला करके मृतकों को अमर किया करता है।

कंटक ही सुमनों के सौरभ-क्षय का भय हरता है,
नयी नीव का पत्थर धीरज, शर-धनु से धरता है।

आयी मलय-समीर सुबह की जागृति ने जय पायी,
मुनि उठ पड़े अनुज, अग्रज ने ली क्रमशः अंगड़ाई।

विश्वामित्र सजग रवि सम थे अग्रज अनुज कमल थे,
जिनकी किरण स्पर्श से दोनों के दृग-दल चंचल थे।

नित्य कर्म कर पूर्ण कहा गुरु ने अग्रज अनुचर से,
'आओ राम स्वस्थ मन पावन बन बाहर अन्तर से।'

बोले गुरु 'उस ओर शिष्य देखो, जिस ओर उदय है—
रवि का जिसका अंश, वंश ले वसुधा में निर्भय है।

कुश-मुद्रिका पहिन कर भुज जो दधि घृत को छूता है,
उसने ही अवसर पर रण में लोह, रुधिर कूता है।

उसको करो समक्ष वक्ष को विस्तृत करो विजय से,
आओ बन आग्नेय, उग्र, अपराजित और अभय से।

लो तपसी से तीर, सुधा से सीखो गरल-शमन को,
देता हूँ ब्रह्मास्त्र विश्व के अत्याचार-दमन को।

जिन हाथों से समिधा के तूणीर तीर झरते हैं,
अनल कुंड की लपटों के धनु जो योद्धा धरते हैं।

अमल आचरण की डोरी को तान लगा उर बल को,
करते हैं संधान प्राण का जो जन के मंगल को।

उनकी अस्थि वज्र है शोणित पिघला हुआ अनल है,
उनकी शान्ति-समाधि क्रान्ति है, उनकी बलि में बल है।

उन्हें अस्त्र औ' शस्त्र व्यर्थ जो दिक्पट के धारी हैं,
निस्पृह निरालम्ब, निरलस जो अविकल अविकारी हैं।

जिनकी स्वास-समीर खींचती विष जग में बहती है,
और दृष्टि असमान सृष्टि के विषम खंड ढहती है।

जिनके भुज भर भाव भेंटते शंकर के विष धर को,
और चरण कृत-कृत्य किया करते कंकड़ पत्थर को।

उनका आलंबन दृढ़ मन है, अस्त्र-शस्त्र झूठे हैं,
उनकी भृकुटि-बंक से लगता विधि सबसे रूठे हैं।

पर सामान्य सृष्टि साधारण जन के लिये सुगम हो,
इसके लिये उचित है सबकी रण-सज्जा भी सम हो।

सुमनों के हित रक्षक बन कर कंटक नहीं बुरे हैं,
तीर न करते घाव भाव से यदि वे भरे पुरे हैं।

पर केवल मस्तिष्क-तंतु से कढ़ते जो सायक हैं,
वे विषधर हैं और विवर में रहने के लायक हैं।

लज्जाहीन मनुज पशु-सा यदि लोहे से डरता है,
धर्मराज भी तो उसके हित तीर-धनुष धरता है।

राम सबल हो, निर्मल हो तुम मन से अविकारी हो,
इसीलिये सब अस्त्र-शस्त्र के सच्चे अधिकारी हो।'

'लो ब्रह्मास्त्र' कहा जब गुरु ने चमक उठा दिक्-मण्डल,
जैसे सजा यातना के सिर पर ज्वलन्त–जन-मंगल।

लक्ष्य-अलक्ष्य दिये आयुध जो काल-चक्र सम खर थे ,
चमक उठे शस्त्रास्त्र सभी, सम्मुख उगते दिनकर थे ।

अग्रज की बल-वृद्धि अनुज के लिये सिद्धि-सी प्रिय थी ,
गुरु की शुद्ध-बुद्धि उस क्षण में चिन्तन में सक्रिय थी ।

और खड़े चुपचाप सुमित्रानन्दन भाव-विनत थे ,
जिनके उर के मोद-चयन में नयन राम के रत थे ।

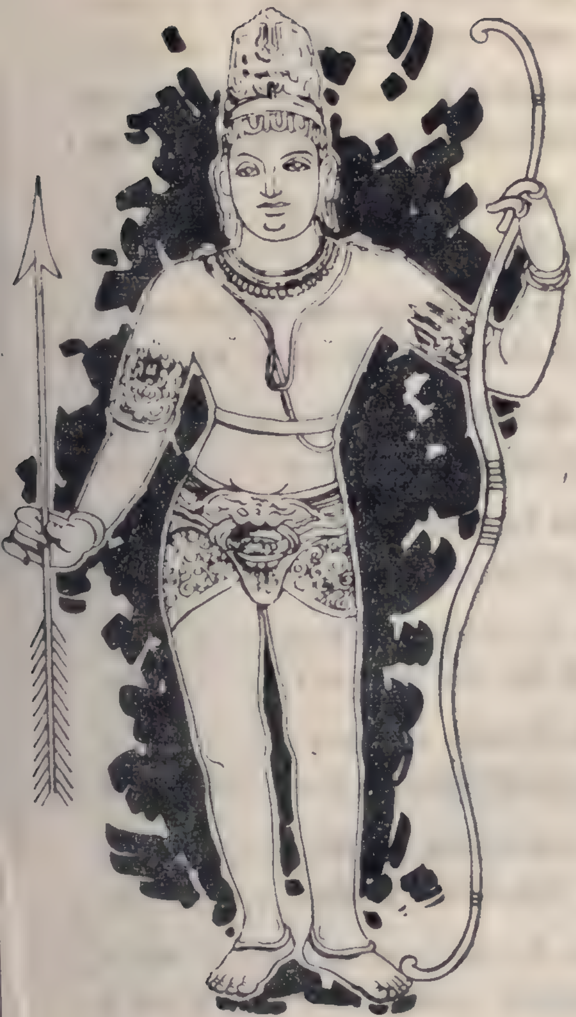
'बड़े की बड़ाई में न पायी छाँह, बाँह गही—
जिसने कनक छोड़ कामना के कन की ।'

बोले गुरुदेव, 'उसके न सिद्धि आयी हाथ ,
जिसको लगी न सगी वृद्धि अग्रजन की ।'

और कुछ हंसते हुए से बढ़े पीछे जहाँ ,
अनुज भरे थे भार-भीति दृष्टि-घन की ।

राम की कमान का समर अभियान यान ,
उतरा अपार वारि धार में लखन की ।।

लक्षमण के नेत्र में आह्लाद का, छलछला आया छलक जो नीर था—
बह चला, पग बढ़ चले चुप आपही संग मुनिके जनकपुर की ओर थे ।



द्वितीय सर्ग

वन का तपोपूत श्रम सहसा समारोह सम्मुख था,
जनकपुरी की सुषमा में मिल गया नयन का सुख था।

चितवनि मिली रूप को, रस को मिला हृदय का बल था,
वन के बाल बांकुरों के आगे अब राज-महल था।

राम राज-पथ पर हर्षित थे यौवन जहाँ खिला था,
वन का त्याग और तप, वैभव के संग घुला मिला था।

सदाचार की सांस, स्नेह के मधुरस में सीझी थी,
लगता था वसन्त-श्री ऋतु के पौरुष पर रीझी थी।

किन्तु लखन का अनल अभी तक मन में दमक रहा था,
तपोपूत मुख-विम्ब तेज से तपकर चमक रहा था।

उन्हें जनकपुर के उत्सव का प्रण सम्मुख दिखता था,
औ ललकार सहित वीरों के बीच धनुष दिखता था।

धीरे-धीरे ज्योतित उर से उठ अभिमान रहा था,
लक्ष्मण की बाहों का बल नस-नस को तान रहा था।

ध्वज-तोरण नर-नारि सुसज्जित सब पुतले लगते थे,
उत्सव में भी अस्त्र-शस्त्र ही अधिक भले लगते थे।

युवक-हृदय से ओज-तेज ही उद्वेलित होता था,
प्रेम नहीं, पौरुष से पग-पग परिचालित होता था।

राम मुग्ध थे, लखन क्षुब्ध थे सज्जित जनकपुरी से,
किन्तु नियंत्रित थे दोनों ही पहिये धर्म-धुरी से।

जल औ अनल संग निकले थे रंग नया छाया था,
उत्सव में अनुराग त्याग को साथ राग लाया था।

राग कि जो बजता था रह-रह सीता के नुपुर में,
जिसकी प्रतिध्वनि सुन पड़ती थी मधुर राम के उर में।

माया-पति की माया-नगरी सजकर बोल रही थी,
बड़े-बड़े सन्यस्त नरों के हृदय टटोल रही थी।

देश-देश के भूपति नाना उत्सव में आये थे,
राम लखन को उनके गुरु अपने मन से लाये थे।

चरण बढ़े श्री राम लखन के चमक बढ़ी चितवन में,
अनायस दोनों भाई आ गये राज-उपवन में।

'लखन' कहा हंस तनिक राम ने 'सम्मुख चंद्रवदन है,
धरती पर; क्या देख रहे ऊपर अब शून्य गगन है?'

समझ न पाये लखन व्यंग यह अद्भुत ही माया थी,
पल भर में ही सबके सम्मुख खड़ी जनक-जाया थी।

आकस्मात मिले सीता के नयन, राम के दृग से।
दोनों के मन मुक्त मिल गये उपवन में वन—मृग से।

लगा राम को नस-नस में रस कोई घोल रहा है,
कोई अपनी दीप्ति अपर में आज उंडेल रहा है।

दो मन मिले नयन से पहले उनका मिला उजाला,
सीता-राम साथ स्वर सबने पहले-पहल निकाला।

लखन अकेले रहे साथ उनके अग्रज का सुख था,
राम और सीता सम्मुख थे, एक व्यक्ति नतमुख था।

पल भर में चितवनि की चपला चमक हो गयी लय थी,
प्रकृति नटी का नाटक, जिसमें बंधी पुरुष की वय थी।

दोनों हटे राम सीता के तुरत चेतना जागी,
और अनुज के सम्मुख अग्रज आये बन अनुरागी।

मुस्काये फिर राम, लखन हंसकर रह गये अधर में,
थे निर्लिप्त अनुज अग्रज पर लिपटे प्रेम लहर में।

'चलो बंधु ! उपवन से उड़ शशि गया सुदूर गगन में,
बोले राम 'चकोर यहाँ पर मार रहे लोचन में।'

'कौन चांद, किसकी चरचा है', भइया ! कहा लखन ने,
बोले राम 'बन्धु। जिसका कर लिया वरण है मन ने।'

शांत हुए सौमित्रि, बंधु के मन को अब अवगाहा,
और राम के चंद्र-वदन को बारम्बार सराहा।

पर बोले धीमे से लक्ष्मण 'यह अवसर पहिला है,
जब यौवन की आग बुझाने को आयी महिला है।

भइया ! मुझे न रुचती यौवन के उठान में नारी,
मन कहता है अनव्याहे-ही उमर काट दूं सारी।

मुझे न रुचते भीगे लोचन और न लम्बी आहें,
नौजवान के लिए खुली हैं और बहुत सी राहें।

और बहुत से पथ हैं जिस पर खिलता नव-यौवन है,
प्रीति-पंथ ही नहीं पुरुष का पौरुष भी भूषन है।

पौरुष भी तो गरम-रुधिर के गौरव का भागी है,
कैसे कहें अकेला घूंघट-पट ही अनुरागी है?

वह भी घूंघट-पट है उड़ता जो योद्धा के सिर पर,
अरुण-ध्वजा बन किसी रथी के रथ के उच्च-शिखर पर।

वह भी है अनुराग आग को जो बलि से वरता है,
जो जवान काँटों के कंकण पहिन व्याह करता है।

जिसकी गरदन बंधी म्यान की दुलहिन की बाहों में,
गांठ बंधी लपटों की, चौकें पुरी कठिन राहों में।

शंख-ध्वनि के बीच सामने जिसके अग्नि दहन है,
अपने पर अन्याय, आक्रमण करता नहीं सहन है।

वह भी तो दूल्हा है जिसका मौर, सौर मण्डल है,
जिसकी इंगित पर प्रतिचालित प्रतिपालित भूतल है।

निष्कलंक निर्धूम अनल सी जलती हुई जवानी,
बुझ जाती है अगर पलक का कहीं गिर पड़ा पानी।

सिंहनाद पर घिरता श्यामल अगर विनय-बादल है,
और विवशता के विषधर का चढ़ता तनिक गरल है।

आँख मूँदकर युवक मृत्यु का आलिंगन करता है,
खाली हो जाता है उर-बल जब दृग-जल भरता है।

अतः बंधुवर जहाँ पराक्रम प्रेम नहीं पचता है,
बलिदानी के उर में केवल वह रस ही बचता है।

जिससे बरबस विभा खींचते सूरज चाँद सितारे,
जिस रस के बस बनते वीरों के लोचन रतनारे।

और कलम पर चमक चढ़ा कर जिसकी कवि लिखता है,
पहली पर्त प्रभा की जिसकी लेकर रवि दिखता है।

जो रचते इतिहास न उनके बिकते हृदय महल में,
शेर-बबर से सदा अकेले जो रहते जंगल में।

किन्तु बंधुवर! यह अद्भुत-सी केवल रुचि अपनी है,
और विविध रुचियों का वध कर दुनियां बड़ी बनी है।

लक्ष्मण के भी बुझ सकते हैं अवसर पर अंगारे,
बल है यही अचल हैं पथ पर वन्दित बंधु हमारे।

मृगलोचनी की मंद मुस्कान में जवान,
हार गया अपनी सदैव शक्ति शूरता।
किन्तु जिसके है लगी चोट किसी चेतना की,
हाव-भाव से न घाव उसका है पूरता।
कहने का अर्थ यही नहीं स्नेह-दान व्यर्थ,
क्योंकि भावुकों को भा सकी न कभी क्रूरता।'
बोले व्यंग 'लखन संभाल न जो पाया मन,
नारि के नयन से मरण उसे घूरता॥'

धनुष-यज्ञ में पहुँचे पग धर मुनि रघुवीर लखन थे,
जहाँ देखने को दोनों को सबके उत्सुक मन थे।

मिले जनक, लक्ष्मण का मन था जहाँ शंभु का धनु था,
उर सागर उद्दाम थहाता शौर्य-सृष्टि का मनु था।

मुनि के संग विदेह, राम के संग धरा-धारी था,
जिसका मन धनु के भंजन को व्यग्र और भारी था।

सोच रहे थे अनुज कि भुज-बल जो बलि से बांका हो,
जिसने सरल आमलक-फल सा दिक्मण्डल आंका हो।

जिसकी छवि से नखत निखरते, रजकण मणि बनते हैं,
वरद-हस्त जिसके कौशल से विभा विन्दु छनते हैं।

वह कर नर का, कर्म कि जिसके संचालन का फल है,
और धर्म जिसकी अंजलि से पीता गंगाजल है।

उसको दुष्कर हो शंकर का धनु विरंचि की पोथी,
तो समझो मनुष्य की महिमा है वसुधा में थोथी।'

टूटा नहीं तार चिन्तन का और चरण चल आये—
धनुषयज्ञ तक, जहाँ वीर सब बैठे शीश झुकाये।

वातावरण विषम, लक्ष्मण का जलता किन्तु अनल था,
और जनक की बुझी उमंगों में न कहीं पर वल था।

बोले 'वीर-विहीन मही दुर्बल दिग्पालों की है,
सिंह हुए नख-दन्त-हीन सब सृष्टि सृगालों की है।'

बैठे ही थे, तुरत उठ पड़े सुनकर कातर बानी,
कहा लखन ने "ठहरो ! मन का मरा नहीं है पानी।

मिथिलेश्वर ! इस धनुष-यज्ञ में ऐसे भी कुछ जन हैं,
निरखे नहीं नयन हैं जिनके अन-परखे से मन हैं।

उनकी ओर निहारो जिनका आनन अंगारा है,
बांचों तुम वह दृष्टि कि जिससे ज्योतित ध्रुवतारा है।

जिनके सिर से ऊपर उठकर जा न सका हिमगिरि है,
और सिन्धु भी जिनके गर्जन से रहता अस्थिर है।

जिनके उर में आंच न लगती है जग की ज्वाला की,
और न पड़ती छांह आपदा की बारिद-माला की।

ऐसे भी कुछ हैं जिनके शर पैने बने हुए हैं,
और धनुष गंभीर घोष से खिंचकर तने हुए हैं।

जिनके भ्रू-विलास पर जग के उठते आन्दोलन हैं,
राज्य-सभामें वीर-बांकुरे ऐसे भी कुछ जन हैं।

जिनकी उठी मुकुट की कलंगी झुकती नहीं दमन से,
मरता नहीं अमृत आँखों का जग के गरल-वमन से।

जिनका रुधिर गरम है, आतुर मर मिटने को मन है,
बड़े-बड़े उन्माद छिपाये जिनका बालापन है।

जिनके दांत दूध के लेकिन काट बड़ी तीखी है,
छोटे हैं, पर बड़े बड़ों ने बलि की विधि सीखी है।"

कहते गये सरोष लक्षमण कर सचेत जन-जन को,
निर्निमेष निमिराज निरखते रहे ज्वलित आनन को।

श्यामल घन से भुवन-भुवन के भूपति-दल छाये थे,
स्तब्ध, निविड़ अवरुद्ध वात से बोझिल बन आये थे।

विद्युत्-शर से व्यंग्य लखन के रह-रह छूट रहे थे,
जनक जातिके मोर मुदित मन उड़ छवि लूट रहे थे।

उठे राम अग्रज, अनुजोचित भाव लखन में जागे,
शान्त हुए सौमित्रि सुरभि मधु अवलोकन में पागे।

फिर बोले गंभीर मेघ की गर्जन से गर्वीले,
"शान्त रहो सब लोग, धैर्य के बंधन करो न ढीले।

संभलो ! तप का तेज मनुज के भुज को तोल रहा है,
पृष्ठ नया इतिहास पराक्रम प्रति का खोल रहा है।

सावधान ! सब देव दनुज किन्नर नर नाग संपोले,
सावधान ! दिग्पालक, लक्ष्मण लक्ष्य दिखाकर बोले।

मानव ने देवता दानवों की बाजी खेली है,
संभलो आज बसीठी नर से बरबस ही लेली है।

राम अकाम उठे हैं दृढ़ संकल्प स्वयं सक्रिय है,
पौरुष का अनुकरण सदा करते जो उनके प्रिय हैं।

जनता की चिर साध, जनक के प्रण की परिधि खुली है,
'समायोग' को फड़क उठी फिर अग्रज की उंगली है।

'आरोपण' प्रणपूर्ण 'प्रपूरण' 'वेदन' 'धनु तोलन' है,
एक साथ ही सब होने को, अद्‌भुत आन्दोलन है।'

खड़े रहे सौमित्रि, राम ने शिव का धनुष निहारा,
गुरु ने अपनी पलक प्रभासित ऊपर तनिक उघारा।

और शिष्य की आनन द्युति में चितवन घोल ठगी सी,
बोले ध्वनि, गंभीर प्रेम की परिचित और पगी सी।

'उठो राम ! निष्काम कर्म का कौशल ऊब रहा है,
वसुधा का वीरत्व–सूर्य अब सम्मुख डूब रहा है।

शंकर का कोदण्ड दिव्य संहार–सूत्र सर्जन का,
रोष, राष्ट्र के उच्चाटन का घोष गहन-गर्जन का।

आज तुम्हें निर्माण-देवता, ध्वंस पुकार रहा है,
राम ! धनुष में छिपा रुद्र का अंश पुकार रहा है।'

उद्वेलित हो कई बार जो शान्त हुआ पल भर को,
सुन गुरु का आदेश, राम ने देखा जन-सागर को।

राम चन्द्र के आनन पर अवसाद न दर्प न भय था,
व्यक्ति-व्यक्ति का खिला नयन में बनकर बल विस्मय था।

जन-जन के पौरुष का पुट राघव में आरोपित था,
एक व्यक्ति में केन्द्रित जनता का जीवन स्पंदित था।

सबका ले सद्भाव जानकी के लालसा सुमन की,
स्नेह सुरभि में सूँघ, पान कर प्रीति मौन चितवन की।

अनायास राघव ने शंकर का दृढ़ धनुष उठाया,
और अचानक जय-ध्वनि गूंजी जन-सागर लहराया।

कड़ी शिंजिनी का जैसे कर से दृढ़ बंधन खोला,
और धनुष को पकड़ बीच से बरबस बल से तोला।

बिजली की तड़पन-सा कड़का शिव कोदण्ड कठिन था,
ध्वस्त हुआ ध्वंसास्त्र, सृजन का उतरा पावन ऋण था।

राम हिमालय थे, जनता उत्तुंग तरंगावलि थी,
और लखन के पलक-पुटों की भाव भरी अंजलि थी।

जनता का जय-घोष और अग्रज की कीर्ति बड़ाई,
पानी बनकर पास अनुज के अवगाहन को आयी।

राम भगीरथ थे, गंगा की धारा के जयकारे,
शंकर स्वयं बने रामानुज जग था हाथ पसारे।

मिला रोष में धान्य, धैर्य का, हवन कुंड सा मन था,
मीठे थे उच्छ्-वास-धूम्र, पर धधक रहा लक्ष्मण था।

पूर्णाहुति थी पलक पुटों की अग्रज की चितवन की,
चमकी ज्योति बड़े की विद्युत पाकर छोटे पन की।

शंकर का संहार अस्त्र सर्जन से भंग हुआ था।,
अनुभव एक और लक्ष्मण को मुनि के संग हुआ था।

साथ पौरुष के, पराक्रम के, सहज प्रीति भी उमगी कि परिणीता मिली,
धनुष टूटा धन्य धरती हो गयी, क्योंकि प्रभुता को सुता सीता मिली।
जनक बोले 'काम तो पूरा हुआ अब समय है, धर्म का निर्वाह हो,
राम पहनें मौर और उछाह में, जानकी के साथ उनका व्याह हो।'



तृतीय सर्ग

जनक जाति का जयोल्लास सागर कुछ शान्त हुआ था,
और गगन गोधूलि-ग्रस्त था, मलिन दिनान्त हुआ था।

पास खड़े सौमित्रि राम की मुख-छवि को पीते थे,
विश्वामित्र मगन थे, उनके योग्य शिष्य जीते थे।

सहसा हाहाकार हुआ हड़कंप अंग थर्राये,
भागो सब भूपाल भयातुर कहा किसी ने 'आये'।

आये कहकर देख न पाये सभी अचेत हुए थे,
दर्प भयातुर भूपालोंके रवि से रेत हुए थे।

घहरा घिरा सभी के सिर पर अंधकार का घेरा,
ऐसा था आतंक सांध्य नभ भी अब हुआ घनेरा।

धूलि धूसरित व्यूह बवण्डर सब की गति बांधे था,
सहज शेष-फण-सा लक्ष्मण का मन सबको साधे था।

सबकी सांस सधी थी रामानुज के खिले वदन से,
हंसते थे रघुबीर बने गंभीर लोल लोचन से।

आये अब प्रत्यक्ष सूर्य से आलोकित वपुधारी,
क्षात्र धर्म के द्रोही, तपसी कर में किन्तु कुठारी।

एक हाथ में परशु, दूसरे में गति शौर्य सुयश था,
कटि में मूंज करधनी मुनि सम, कांधे पर तरकश था।

दूर देखकर ही रामानुज उठे और मुस्काये,
बोले, 'बड़ा शोर सुनते थे बंधु, परशु-धर आये।'

तन में रमी भस्म धूमिल थी चटक चारु द्युति तन की,
परशुराम उद्दाम खड़े थे जय लेकर त्रिभुवन की।

जैसे ही जमदग्नि-तनय ने तरकस धनुष उतारा,
वैसे ही व्यंगोक्ति बाण को रामानुज ने मारा।

"कहिये ब्रह्म-तेज के नेता क्षात्र-धर्म के धारी,
एक हाथ जल देता बोता अपर हाथ चिनगारी।

यती और योद्धा दोनों की तुमने नकल उतारी,
रखकर नाम बड़े भाई का बने आप अवतारी।

क्षात्र-धर्म की उच्छृङ्खलता क्षत्रिय बन पहचानी,
डाकू बन करके करते हो डाके की निगरानी?

है ऋचीक कुल कमल मारते विष को तुम विषधर से,
अन्धकार का शमन चाहते तिमिर पक्षधर शर से।"

लक्ष्मण के आग्नेय स्वरों को अमित धैर्य से साधा,
परशुराम ने खुले जटामण्डल को कस कर बांधा।

और कुठार संभाल सामने करके बल से बोले,
'कहो जनक! किसने पाले हैं यह विष भरे संपोले?

किसने आज बाज के सम्मुख छोड़े खग-खंजन हैं,
विश्वामित्र। बताओ दोनों किसके कुल नन्दन हैं?

मुझसे पूछो, हंसे और फिर व्यंग लखन कुछ बोले,
मुनिवर हम हैं क्षत्रिय, फिरते अपनी छाती खोले।

तुम सैनिक कुल के संघाती हम सैनिक बांके हैं,
लड़ने वाले लाल लाड़ले हम भारत मां के हैं।

आये हो तुम, हमें देखकर ही हिम्मत को हारे,
देखो और उधर खण्डित धनु गुरु का पड़ा तुम्हारे।

तड़प उठे भृगुनाथ किसी ने जैसे दर्प खंरोचा,
या कि हठी बालक ने उंगली उठी आंख में कोंचा।

उछले जैसे सिंह, कूदकर, राम जहां थे, आये,
'बाजीगरी विचित्र!' लक्षमण कहकर फिर मुस्काये।

तपोपूत उद्दण्ड पराक्रम जान अधिक उच्छृङ्खल,
रामचन्द्र ने उठी लपट को शान्त किया देकर जल।

बोले 'मुनिवरेण्य जिस धनु से विष्णु और शंकर में,
मन-मुटाव हो गया अकारण शान्ति और संगर में।

जिसका धर्म नाश है केवल कर्म मनुज का बध है,
जिसके कारण अशिव बने शिव, सर्जन सका न सध है।

व्यर्थ अर्थ-विज्ञान मरण ही जिसकी इति परिणति है,
क्षात्र-धर्म धिक्कार, पहुंचती जिससे कुछ भी क्षति है।

जिसका कहीं न जोड़ जगत में और न अपर बना है,
ऐसे धनु से मनु के बालक का खेलना मना है।

राष्ट्र—एकताके खण्डन का वह प्रतीक गर्हित है,
वह है सफल शस्त्र जिसमें जन का कल्याण निहित हैं।"

नयी उक्ति राघव की, युग की नयी युक्ति जीवन की,
सुनकर परशुराम की गर्मी मिटी तनिक तन मन की।

लखन हंसे फिर बोले भृगुवर 'जो कद में नाटा है,
राम तुम्हारा भाई फूलों में केवल कांटा है।'

'कांटे को कांटे से मुनिवर अपने आज निकालो ,'
क्षत्रिय बनकर लड़ लो पहले विप्र धर्म फिर पालो ।,

यदि हो शूर व्यर्थ ही बनते मन से संन्यासी हो ,
आग लगा कर आग बुझाने के तुम अभ्यासी हो ।'

कहकर हंसे लखन फिर अपना तीर हाथ में तोला ,
'शान्त-शान्त' सहसा समूह सब हाथ जोड़कर बोला ।

हंसे लखन कह 'डरो न मुनि से मनुज न रण करते हैं ,
कभी-कभी बस मुस्कानों से गरल-शमन करते हैं ।'

'देखो राम ! कुटिल वालक की यह यातना अधम है ,
लगता मुझको इसके सिर पर स्वतः नाचता यम है ।'

बोले गुरु गंभीर वचन रघुबीर 'न दोष लखन का ,
इस पर चढ़ा घमण्ड तुम्हारे बल का बांकेपन का ।

आये होते, अगर विप्र बन पावन पोथी धारे ,
निश्चय मुनिवर अनुज पांव पर पड़ता तुरत तुम्हारे ।

यह विडम्वना स्वयं साथ में मुनिवर तुम लाये हो ,
क्षात्र वंश के आगे क्षत्रिय बन करके आये हो ।

ब्रह्म-तेज में मिला विभव का और बैर का मल है ,
शान्ति दूत को नहीं सजाता अस्त्रशस्त्र का बल है ।

बोले रामचन्द्र 'शूरता की शक्ति स्निग्धता है ,
ध्वंस के धुएं में दीप्ति है पै दह्यमान है ।

भृगुनाथ, भावना के भक्त सिंह शावकों को ,
करता सशक्त साधना का दुग्ध पान है ।,

और फिर अधर पुटों की चंद्रिका बिखेर ,
बोले 'कहो कौन वस्तु इनमें महान है ?

सर्प-सी तुम्हारी दर्प-युक्त स्फीत फूत्कार ,
या कि भोले लखन-लला की मुस्कान है ?'

परशुराम कुछ सिहरे शीतल व्यंग्यमयी सुन बानी ,
जैसे जलते हुए पेड़ पर पड़े अचानक पानी ।

लक्ष्मण की मुस्कान निरन्तर खर-तर हो खलती थी,
दुखती आँखों के आगे ज्यो दीप-शिखा जलती थी।

बोले फिर सौमित्रि 'धरित्री तुम भृगुवर साधे हो,
सच है; विचलित दिग्पालों को भुज-बल से बांधे हो।

एक बात पूछूं जिस धनु को लिये हुए आये हो,
जिसके वल की विपुल वारुणी पिये हुए आये हो।

नयी बात क्या है अग्रज ने अगर वह धनुष तोड़ा,
सोचो अपनी बुद्धि शुद्ध कर शीतल होकर थोड़ा।

तुमतो अपनी शक्ति धनुष की डोरी में बाँधे हो,
और परशु पर युग जनता की सुख-सुविधा साधे हो।

अन्तर-बल जिनमें है भृगुवर उनमें आग नहीं है,
ऐसी बात नहीं है, लेकिन हर कृमि नाग नहीं है।

गहन सिन्धु बड़वाग्नि भरे है ऊपर से शीतल है,
बादल बिजली की ज्वाला पीकर भी नहीं विकल है।

इसी तरह बलवान रोषकर उबल नहीं पड़ता है,
अपना ही अस्तित्व फूँककर उछल नहीं पड़ता है।

आये होते अगर विप्र की सहन-शक्ति समिधा ले,
होता यज्ञ पूर्ण पहले ही, जाते शान्ति सुधा ले।'

बात चुभी पर झुके न अब तक भृगुनन्दन कंपित थे,
एक व्यक्ति से हारें कैसे जग से अभिनंदित थे।

रामचन्द्र ने पकड़ी उनकी मन की यह कमजोरी,
और कर गये बात अनुज से सबकी चोरी चोरी।

बोले विचलित परशुराम से 'हम जो नहीं कुपित हैं,
इसका अर्थ न मृगुवर है यह तुमसे आतंकित हैं।

हमें शान्त पाकर बहके हो अपमानित करते हो,
तुम्हीं सोच लो, काम कुपित हो वीरोचित करते हो।'

बोले 'मुनि लाओ' बाम-अंग से धनुष छीन,
राम ने शिथिल शिंजिनी समोद तान दी।

जैसे भृगु-वंश हंस को अशान्त सागर में,
किसी मान सर की मधुर पहिचान दी।
अपनी अपार दृष्टि-विन्दु की विभा विभोर,
चित चोर बन दग्ध लोचनों में छान दी।

राम ने परशुराम को सुबुद्धि दान दी तो,
लखन में अपनी सरस मुस्कान दी।

भृगु-नन्दन का अहं राम की विनय विभूति विमल से,
लज्जित हुआ जिस तरह बुझता है अंगारा जल से।

अनुनय में ही तिरी कुपित मुनि की अभिमान तरी थी,
अन्तर् की द्युति बन आनन की अरुणाभा निखरी थी।

लगता था संशय पर निश्चय की दुंदुभी बजी हो,
हृदय-देवता के मंदिर में फिर आरती सजी हो।

राम लखन के झुके शीश, मुनि का कुठार कंपित था,
अडिग आत्मबल पूर्ण विनय से पशुबल आतंकित था।

परशुधर ने धनुष राघव को दिया, शान्ति को जैसे कि संरक्षण मिला।
और लक्ष्मण ने कहा उल्लास से, 'धर्म-धारी धनुर्धारी हो गये।'

धनुष टूटा भार्गव का दर्प भी, विनय और विभूति से खण्डित हुआ।
राम के बायें विराजी जानकी, और लक्ष्मण उर्मिला से बंध गये।



चतुर्थ सर्ग

घनी रात पर बनी अयोध्या दीपावलि से दिन-सी ,
सरयू-तट पर मुग्ध खड़ी थी स्तब्ध बनी दुलहिन-सी ।

रह-रह वायु मधुर आभा का अंचल फहराती थी ,
लगता था घूंघट-पट से हट मुख छवि लहराती थी ।

जैसे एक साथ शत-शत नत-नयन उघर जाते थे ,
या कि स्नेहियों के उर-चेतन चमक सिहर जाते थे ।

मौन-निशा में मुखर निखरती आती थी दीवाली ,
और लखन के लोचन पीते थे आभा उर वाली ।

उनके अवयव पहन रहे थे वह उर्मिल उजियाला,
सजग साधनामयी उर्मिला के उर की मणि-माला।

राग-मयी रजनी के पल-पल मधुकन छान रहे थे,
पहले-पहल प्रीति को रामानुज पहिचान रहे थे।

राज-महल पर रवि छवि रंजित उड़ती ध्वजा धवल थी,
निविड़-निशा में वह भी उनके उर-पट सी चंचल थी।

चितवनि, रसिक सुमित्रानन्दन की रस-मयी रुचिर थी,
प्रथम मिलन की आतुरता की लौ-सी पर अस्थिर थी।

कठिन-कर्म, रण-रंग-राग में पल भर को पागा था,
और सुप्त वैराग्य अचानक रजनी में जागा था।

प्रतिहारी ने दिखा प्रणय-पथ दिया मौन-भाषा में,
आशय का पुट मिला लजीली आतुर अभिलाषा में।

मंगल-कलश-युगल पर जलती दीपक की लौ मोड़ी,
रामानुज ने अलग-अलग जलती दो द्युतियाँ जोड़ी।

सुघर उर्मिला के मंडप का द्वार संभल कर खोला,
तनिक-तनिक रोमांच-वृद्धि का तन्तु, तुला पर तोला।

और सामने सुमुखि साधना मयी नयी दुलहिन थी,
जो अमृत के बूंद मूंद दृग रही मिलन के गिन थी।

अंतर्भाव जगा पत्नी ने मधु-मुद्रित दृग खोला,
पति ने प्रथम प्रेम की चितवनि का रस उसमें घोला।

दोनों की मुस्कान मिल गयी वह्नि और बाती सी,
लक्ष्मण और उर्मिला की गति हुई मेघ-स्वाती-सी;

और पपीहे-सी कवि की आतुरता उसमें लय हो,
बोल उठी 'सौमित्रि-उर्मिला की जोड़ी की जय हो।'

जय हो अनल और जल की संतृप्ति संधि मन-घन की,
जय हो उर बल और कला के मंगल आलिंगन की।

जय हो हे उद्वेग सिन्धु के उर की बाड़व-ज्वाला
जिसने वारि-विरत रेखा की मर्यादा को पाला।

विपुल व्योम घन बीच विभासित बलि-सी विद्युन्माला,
जिसने भरा नयन में पानी अन्तर में उजियाला।

जय-जयकार ज्योति तन्वंगिनि संगिनि लखन लला की,
रामायण के मुखरित पथ पर खड़ी मौन अबला-सी

आकस्मात् मिले लक्ष्मण के लोचन नयन अपर से,
और उर्मिला का मधुसिंचन उमड़ पड़ा अन्तर से।

आंगन में माधवी-लता का महका मंद-पवन था,
या तप के आतप में शीतल सुरभित मधुर मिलन था।

लज्जा की पहली सज्जा धो गयी सजल लोचन से,
दोनों के मन की आशंका डूबी आलिंगन से।

चितवनि का सूनापन सरसा, बरसा रस बातों का,
लखन-उर्मिला को कुछ अनुभव मिला मधुर नातों का।

दीपशिखा-सी उठी प्रेयसी प्रियतम पद में लय थी,
लगता था औद्धात्य-वृत्ति में अंतर्हित अनुनय थी।

लक्ष्मण ने उर्मिल उर का आवेग छुआ उर-बल से,
उठा लिया पत्नी को आलिंगन के मिस फिर भूतल से।

बोले 'धरती में रहने की बान तुम्हारी घर की,
छूटी नहीं ? 'अवधपुर के नर करते बात शिखर की।

पर्वत की चोटी पर तपते जिस कुल के बलधारी,'
कहा उर्मिला ने 'उस घर में कहां रहे सुकुमारी ?'

जहां धनुष-भंजन से खंजन नयना पति, वरती हो,
कहा लखन ने, 'जहां परशु की छाया में धरती हो।'

बोली सीता की लघु-संगिनि व्यंग्य बहुत तीखा है,
ऋषि-मुनियों के संग यही क्या तप-तप कर सीखा है ?

ऊंचे कुल की रीति अनूठी जहां प्रीति-धन-दानी,
पावक से पैदा कर लेते हैं बच्चे वरदानी।

प्रियतम सच है, हम धरती की, तुम नभ के वासी हो।
तुम्हें चाहिये अर्द्धांगिनि जो उड़ती उल्का-सी हो।

शेष, सहस्त्र फणों पर वसुधा की सुविधा साधे हो,
किन्तु आप संपूर्ण जगत में आधे के, आधे हो।

मधुर बोल चितवनि रस भीनी पर कठोर उर, कर है,
नर-नारी के बीच अजब कुछ अवधपुरी का नर है।'

'सच है' कहा लखन ने प्रिय का चिबुक पकड़ मुख चूमा,
दृश्य देखकर मधुर मौन शुक पंख फुला कर झूमा।

प्रिये ! देहधारी आधे नर औ आधे नारी हैं,
पर विदेह संपूर्ण शक्ति के ऐसे अवतारी हैं।

हल से फाल-कुदाल-चाल से जो यौवन जोते हैं,
और अन्य के बल के बूते मनुज-बीज बोते हैं।

'और सुनो, मुख चूम प्रियतमा का लघु-विक्रम बोले,
देव-दनुज-मुनि-मनुज भुजा पर अपनी ताकत तोले।

निमि-कुल की ललना की छलना की छवि से माते हैं,
केवल लखन प्रतीति-परिधि की सीमा में आते हैं।

प्रियतम अपनी प्रीति बांटते हो तुम अपने घर में,
भाई का भुज पकड़ा घर में भगिनी का कोहवर में।

गुरु के संग शिष्य ने केवल कलियां ही पहचानी,
और लता-बनिता से लिपटे वन में चढ़ी जवानी।

अवधपुरी का यौवन रसिया राम-सिया-सी रानी,
जिनके बल पर उछले प्रियतम बने आप अभिमानी।

अपनी भी करनी कुछ करते, बनती नयी कहानी,
अग्रज के कौशल पर अपना रखा तेग पर पानी।

एक बंधु ने शिव धनु तोड़ा, सब बन गये विजेता,
सबकी पीली हुई हथेली व्याह गया यदि नेता।'

कविता में कह गयी उर्मिला मन हुलास में घोले,
अब कोई उत्तर में कैसे उपन्यास में बोले?

समुद सुमित्रा-सुत ने मुख पर हल्की चपत लगायी,
कहा, विदेह-वंशजा तूने मेरी बात चुरायी।

जगज्जननि प्राची-दिशि, अंचल जिसका रवि रंजित था,
कौशल्या के नयन-अश्रुमय थे कि हृदय स्पंदित था।

बुझी राख की ढेरी सा तन सांसों से उड़ता था,
रात विषभरी नागिनि सी थी, दिन रह-रह गड़ता था।

सहसा धनुष बगल में डाले उद्धत मतवाले से,
आये समुद सुमित्रा-नन्दन, साधों को पाले-से।

और खड़े हो गये सामने कौशल्या के तनकर,
जैसे धूल भरी संध्या के आगे मलिन-गगन पर;

हंसता है आलोक चंद्रमा का आह्लाद भरा-सा,
या कि बाल-रवि निकट खड़ा हो रजनी के निखरा सा।

माता ! 'कहो किसे नत कर दूं विधि को विनत बना दूं,
और कहो तो तोड़ गगन के चांद नखत सब ला दूं।

कुछ तो कह री मां, तेरा जो दूध पिया, उबला है,
आज लाड़ले लखन लाल का अल्हड़पन मचला है।

पीड़ा औ उल्लास हास का यह अद्‌भुत सम्मेलन,
अनायास हो गया, मिले ज्यों मरुस्थली से मधुवन।

लक्ष्मण भी गंभीर हो गये नीर भरे लोचन में,
अपनी आकृति देख दुखी मां के दयार्द्र-दर्पण में।

भीगे नयन मिले, मन भीगा, तन अब हुआ शिथिल था,
पद पर झुके लखन, तन उनका रहा रोष से हिल था।

मां ने तुरत सुमित्रा-सुत को छाती से लिपटाया,
राम राम। हा राघव ! कहकर सब संवाद सुनाया।

'राज छोड़कर रामचन्द्र अब बन कर के वनवासी,
चौदह बरस अवधि काटेंगे शूर बने संन्यासी।

यह आदेश पिता का, सहमति कैकेई की भी है,
कौशल्या ने कहा 'हिमालय डोला, धंसी मही है।'

"जन्म सिद्ध अधिकार अवध का रामचन्द्र खो देंगे,
क्या राघव जंगल में जांये, राज भरत भोगेंगे ?"

कहा लक्षमण ने तक्षक से फूत्कार के स्वर में,
'अवध राज-पद का निर्णय अब होगा आज समर में।'

धनुष टेक उठ पड़े धराधर, आनन अंगारा था,
लगता था मुख नभ से स्वर का टूट पड़ा तारा था।

पावक मयी नयी वाणी की एक-एक चिनगारी,
उल्का सी उड़ती थी, बहते उधर अश्रु थे खारी।

रोष-रुदन का मिलन लक्षमण शर पर साध रहे थे,
और समर को उद्यत होकर तरकस बांध रहे थे।

बोले 'मातेश्वरी। अरी तू भी कितनी भोली है,
वचन प्रतिज्ञा के पलड़ों पर तूने मति तोली है।

बालक बने पिता, दृढ़ पथ पर पड़ते चरण नहीं है,
बच्चों सी थोथी बातों को कहते वचन नहीं हैं।

नागिनि सी विषभरी कामिनी के वश में राजा हो,
तब तो उबल पड़ेगा नर में अगर रुधिर ताजा हो।

ऐसे वृद्ध स्त्रैण कामुक मोहान्ध पिता का वध है—
निश्चित, उन हाथों से जिनसे सकता धैर्य्य न सध है।

पिता कौन ? जो जन्मसिद्ध अधिकार पुत्र का ले ले,
और राज पद को पाने में पैदा करे झमेले ?

विषयी पिता, विषभरी माता पुत्र दूध का धोया,
इसीलिये दोनों ने मिलकर उसका स्वत्व डुबोया।

कहो न मां अजात-रिपु राघव अति उदार उपकारी,
जिसकी आंखों में गड़ते हों वह नर हो या नारी।

है अवश्य वध योग्य पूर्वज मनु की उक्ति यही है,
और समर ही न्यायालय हो अब तो युक्ति यही है।

जाता हूं राघव भइया को परामर्श मैं देने,'
कहा लक्षमण ने सरोष रक्षक का पद मैं लेने।

रात न बीतेगी भइया चुपचाप अवध के राजा—
बनकर सुबह उठेंगे, कर ले फिर कैकई तगाजा।

मैं देखूंगा सिंहासन के पास सिंह-सा तन कर,
देखें कौन राम के आगे आता है नृप बनकर ?

जिसके सिर पर हाथ राम का और ओज आंका हो,
क्या मजाल उसका फिर रण में एक बाल बांका हो ?

कोमल-वृत्ति बुरी है जग में मृदु-स्वभाव वर्जित है,
क्योंकि कोमलों से, कुटिलों ने की वसुधा अर्जित है।

कैकेई के प्रोत्साहन से राजा कुटिल बने हैं,
सरल प्रश्न शासन के भ्रम-वश कितने जटिल बने हैं ?

यदि कोई भी अहित राम का करने को आता है,
लक्ष्मण के हाथों देखेगा जग, मारा जाता है।

भाई भरत, पिता दशरथ अथवा माता कैकेई–
ने यदि आज कुचक्र भंवर में रुचि की नौका खेयी।

तो डूबेंगे तीनों लक्ष्मण के खर शर धारा में,
राज करेंगे राम, भरत होंगे बंदी कारा में।

मैं अपने तीखे बाणों से सकल विश्व वेधूंगा,
रामचन्द्र की स्वत्व-सहचरी अवध-पुरी ले लूंगा।

कार्याकार्य विवेकहीन दम्भी दोषी गुरुजन भी,
निश्चय वध के योग्य शत्रु बन आये अगर स्वजन भी।

क्या अधिकार प्राप्त राजा को साध वैर हम सब से,
राज भरत को दे हो स्थापित, बुरी प्रथा यह अब से।

सगर सुतों का ही रघुकुल में उदाहरण मैला है,
जिनका भस्मीभूत कलेवर अपयश बन फैला है।

क्यों कि पिता के पागल पन पर धरती खोद बहायी,
और कपिल मुनि से फिर सबने मृत्यु अधम की पायी।

हम भी मरें मौत कुत्तों की, पग से पाहन फोड़ें,
पुत्र धर्म की सगर सुतों की कटी शिंजिनी जोड़ें ?

लक्ष्मण राघव का अनुगामी, अनुज और अनुचर है,
ऐसा भक्त कि भाई जिसका जग भर से बढ़कर है।

छोटा है पर अनुचर केवल सुख का नहीं सगा है,
राम आग के आगे, उसमें पहले लखन लगा है।

धर्म की दुहाई दे निजत्व स्वत्व छीनने में,
पटुता दिखाई पड़ती है जहां, जाल है।

जिसमें न फंसते चतुर नर वीर यथा,
धूम्र-पुंज से प्रतप्त गलती न दाल है।'

धनुष धरा-धर के कोप से चढ़ा तुरन्त,
और लगा फूंकने गरल ज्वाल व्याल है।

राम का प्रताप आप ही से आप पाप देख,
चाप साध साधु लघु-वन्धु बना काल है।

जलता हुआ अनल-सा लक्ष्मण का मस्तक फिर घूमा,
और राम ने शीतल जल-सा अधर लगा मुख चूमा।

तप्त अश्रु चू पड़े बंधु के विस्तृत वक्षस्थल पर,
जैसे गिरा मृगशिरा का जल ज्वलित श्रमित भूतल पर।

रामचन्द्र ने उत्तरीय से पोंछा दृग जल खारी,
और स्नेह की चितवनि देकर ले ली वह चिनगारी;

जिसमें छिपी हुई थी अकरुण प्रतिहिंसा की ज्वाला,
प्रलयंकरी, कि जिससे कुछ का कुछ था होने वाला।

वक्षस्थल में जलता आनन शीतल उर उस क्षण का,
सुधि में छिपा राम के पिघला जो आतप लक्ष्मण का।

बोले राम 'अनुज अनुतापित उर न सबल होता है,
धर्म धैर्य से धौत धवल मन कार्य कुशल होता है।

अनाहूत आतप में मैंने जल की बूंद बिठाली,
आज्ञा अपने पितु-वरेण्य की अमित धैर्य से पाली।

जितनी व्यग्र उग्र उल्लंघन की है परिधि तुम्हारी,
उतनी ही परिशान्त क्लान्त उर की है विनय हमारी।

जितना तुम्हें अखरता यह सब मुझको, सह्य सरल है,
विघ्न और विपदा से बढ़कर क्यों कि हमारा बल है।

धरते धूल भरी आंधी में पंछी अपना पथ हैं,
वे ही विचलित हो गिरते हैं खग जग में जो श्लथ हैं।

थके हुए विप्लव से बढ़कर है विस्तार विनय का,
अवधपुरी का राज्य बड़ा है या साम्राज्य हृदय का ?

सबल मनुज के शीतल मन के अतिशय प्रबल फुहारे—
जब पड़ते हैं, बुझ जाते हैं आतप के अंगारे।

और शान्ति के साथ सबलता सक्रिय हो उठती है,
जलती चिनगारी भी तब लोचन-प्रिय हो उठती है।

उसी तरह बल से विप्लव की होती सृष्टि सही है,
अनुज न अनुनय के बल से ही क्या विस्तीर्ण मही है ?'

'धैर्य धर्म उनके जो उनको धारण कर सकता है,'
बोले लक्ष्मण 'उसको क्या जो जन, रण कर सकता है ?

भइया ! धनुष न केवल कौतुक तीर नहीं सेठे हैं,
कुंद नहीं तलवार वार में बूड़े जो पैठे हैं।

और वक्ष विस्तीर्ण पखोरे पौरुष भर फूले हैं,
भरत अकेले ही लड़ते क्या हम लंगड़े लूले हैं ?

जहाँ फूंकता उर में विषधर आंखों में ज्वाला है,
और रगों में गरम रुधिर ले मानव मतवाला है।

उसका अनल कहां सिरजेगी धैर्य धर्म की धारा,
देव दुबक जायेगा निश्चय लख पुरुषार्थ हमारा।

मैं तो कहता जो पी सकता है अन्याय अनय को,
और न सकता मेंट शत्रु से मिले अकारण भय को।

अपना स्वत्व छोड़ दे जो अपना देकर सिंहासन,
मुकुट पगों पर रख दे बैरी के तज कर वीरासन।

भइया मुझे न जंचता उसका धैर्य धर्म का नारा,
छोटा हूं कहने को इतना तो अधिकार हमारा।

धैर्य अगर होता तो वर्षों के वरदान अधूरे,
जिस क्षण यौव-राज-पद आता उस क्षण होते पूरे !

धर्म अगर होता तो क्या मुंह अपना भरत छिपाते,
इस दुविधा में ही सुविधा थी मामा के घर जाते ?

दैव कहीं भी अगर दृष्टि में पड़ता सांझ सकारे,
तो क्या आप सरीखे मधु के बहते आंसू खारे ?

जिसके पूरे हुए न अब तक वर्षों के दो प्रण हैं,
धैर्य, धर्म उपकार, अहिंसा उसके आभूषण हैं।

जो अपने पौरुष से प्रतिक्षण करता पूर्ण वचन है,
उसका धनुष धर्म है धीरज मन का रण-क्रंदन है।'

ज्वलित नयन को बांच भृकुटि के श्यामल भस्मांचल से,
अधर दसन से दबा सांस लेकर लम्बी उर बल से।

बांया हाथ बढ़ा विषधर-सा तीर अपर पर तोले,
पृथ्वी पर पग पटक लक्षमण बड़े जोर से बोले :—

'जो अपना अधिकार मांगते नहीं, छीनते बल से,
वीर-पुरुष वे कभी न मरते हैं परिताप गरल से।

जिनकी बनी अनी उत्सुक है, तनी धनुष की डोरी,
खड्ग खुला चंचल हाथों से करता है बरजोरी।

तिनके की खरोच से जिसका दर्प सर्प फुफकारे,
और रगों में गरम रुधिर बन गलते हैं अंगारे।

लोचन से भय मोचन जग के ज्योतित हों फव्वारे,
बढ़े हौसले पर अन्तर का हो उत्साह निखारे।

ओज-तेज से दीपित आनन सहे न रिपु की छाया,
संकट में सहेज अन्तर—बल बन कर लड़े सवाया।

उसके पथ में दैव न पड़ते, भाग्य न मिलता मग में,
धैर्य धर्म की धूलि न लगती उसके उठते पग में।

सदाचार उपकार, अहिंसा समता ममता माया,
उसके संग सदा रहते हैं जिसने धनुष उठाया।

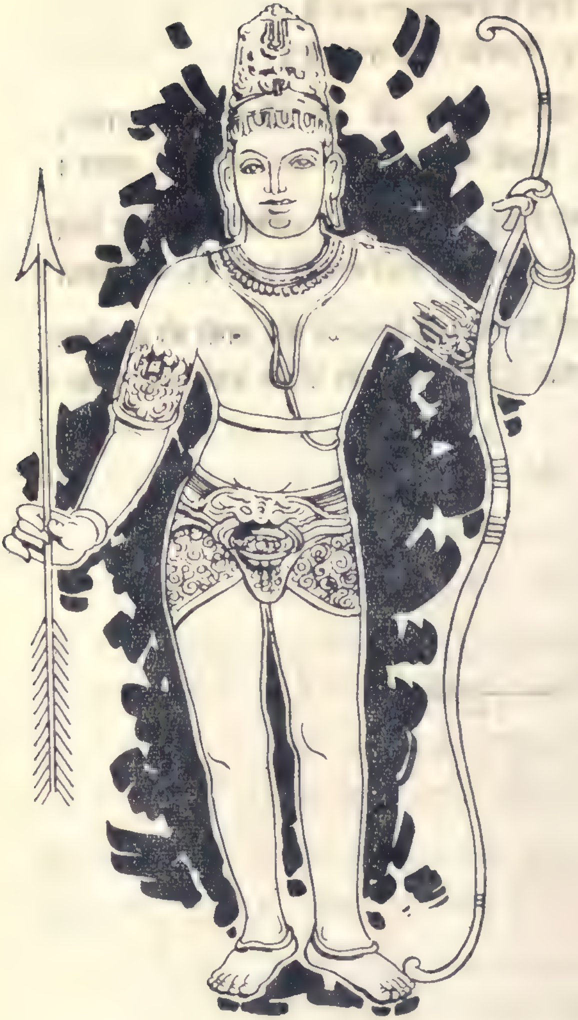
जिसका तरकस भरा, धरा है उसकी, धनु उसका है,
तीर तोलना जिसको आता है, त्रिभुवन उसका है।

वारि वेग में रुकता वह जिसमें दिग्गज-सा बल है,
अवधपुरी उसकी है सरयू जिसके लिये सरल है।

ध्वजा धैर्य की और धर्म की रवि-रंजिता पताका,
उसकी, जिसने चढ़ा धनुष को सदा लक्ष्य-ही ताका।

ताप झेलते हैं आप चंड किरणों का किन्तु प्यार से प्रचार वारिधार का सदा किया,
नन्ही बूंद वाले मचले तो कभी वज्र-पात स्यात् उन्हीं बादलों ने भी यदा-कदा किया।'

'भइया, बोले लखन 'निरापद उसी का पद आयी विपदा से वीर बाजी जो बदा किया,
रघुकुल रीति से, अनीति के विरुद्ध युद्ध जिसने लिया उधार उसने अदा किया ॥'



पांचवां सर्ग

लक्ष्मणका ज्वलंत उग्रानन शान्त हृदय-मन्दिर में,
धरकर चले राम, चलता ज्यों शशि नीलाभ-अजिर में।

बार-बार विजली सी मुख-छवि सुधि के श्यामल नभ में,
चमक उठा करती थी रह रहकर राका निष्प्रभ में।

मस्तक पर आदेश पिता का उर में ओज अनुज का,
और शिथिल कंधों पर डाले भार भाग्य के भुज का।

बोझिल बन मस्तिक पिंड में मन का ताप छिपाये।
राम, जानकी के मन्दिर का मोद चुराने आये।

समझ गयी सीता प्रियतम का मौन विषाद विरल सा,
प्रणय-परिधि में पहुंच प्रश्न का उत्तर बना सरल सा।

चन्द्र युक्त नक्षत्र और शुभ दिवस सुराज तिलक का,
बोली सिया, 'पिया क्यों सूखा पंकज अरुण पलक का?

क्यों निस्तेज निरभ्र दिवाकर उगता उदयाचल का,
बंधा किसी क़ुसुमांजलि में क्या पावन जल उच्छल का?

प्रकृत प्रसुप्त गुप्त आशय की खुली ग्रंथि अन्तर की,
और गयी पत्नी के सम्मुख पति की व्यथा बिखर-सी।

बोले राम, 'पिता की आज्ञा की मेरी मति दासी,
कल ही विरत बनूंगा गृह तज मैं दण्डक वनवासी।

भरत राज पद के अब होंगे उस दिन से अधिकारी,
जिस दिन से मै छोड़ बनूंगा तुम सबको बनवारी।'

सुनती रही मेघ-गर्जन-सी वाणी विषम सभीता,
और अचानक बिजली सी फिर बोली क्रुद्ध कर सीता।

'प्रियतम! मैं भी साथ चलूंगी अवधपुरी तज वन में,
चलती ज्यों धरती सूरज के साथ समग्र भुवन में।'

कहा राम ने 'संग सुखद है बिछुड़न दुखदायी है,
किन्तु मनुज को कभो स्वयं की खलती परछायी है।

जहां खनन खुरपी से कौशल, कन्दमूल से काया,
ताप विटप से, तन से उर का आतप नपता आया।

वहां विपिन में कहाँ खपेगी नयी उमर रतनारी,
कुश कांटों में कहां सजेगी शय्या की सुकुमारी?'

'शर के प्रखर प्रहार, सिया ने कहा 'समझ मैं पायी,
जनक-जाति ने निज मर्यादा ऐसी जगह बहायी;

जहाँ वीर अपनी रक्षा में ही रहते यों रत हैं,
नहीं और की बाँह थाम कर चलने में सहमत हैं।

तो वरती क्यों ऐसे पतिको जो घर ही में प्यारा,
घर से बाहर दे न सके जो पथ में सबल सहारा।

राघव ने कचोट मन अपना नीचे नयन गड़ाये,
निश्चय से कठोर स्वर, सुमधुर भावों में भर आये।

'चलो तुम्हारा ही हठ रानी क्यों रह जाय अधूरा,
कहा राम ने 'तुम भी अपना अब प्रण कर लो पूरा।'

लक्ष्मण छिपे छिपे सुनते थे राम सिया की बातें,
लगा रहे थे वे भी संग में बन जाने की घातें।

वातावरण बहुत अपने अनुकूल ज़ान घर आये,
और प्रकट हो गये अचानक बोझिल शीश झुकाये।

सबकी लेकर साध, साधु बन चला सिरजने 'वाला,
अपनी आहुति लिये बढ़ चला, अपना जहां उजाला।

फिर सहसा ज्वलन्त-मण्डल का चमकामंगल-तारा.
और हृदय ने सदय-विनय की वाणी को ललकारा।

लक्ष्मण ने बंकिम-भ्रूमण्डल से छोड़ी चिनगारी,
बोले 'बंधु बना था बचपन से मैं आज्ञाकारी।

भोजन, शयन, वरण, रण, रक्षा में समान सहयोगी,
रहा निरन्तर कृपा दृष्टि का मैं केवल उपभोगी।

मैं क्या करूं सकल-बल मेरा निहित आपके पद में,
साथ रहा आनंद भोग में बिछड़ूं क्यों आपद में?'

सिहर उठे सौमित्रि सर्प-सी सांस सिमट कर छोड़ी,
और तनिक ग्रीवा आगे की ओर झिटक कर मोड़ी।

फिर बोले रामानुज 'भुज में मेरे जितना बल है,
और हृदय की तप्त भूमि में जितनी जगह तरल है।

उसकी तृप्ति आपके पद-तल से लिपटे रजकण में,
जीत आपकी जलती रहती जीवन बन लक्ष्मण में।

भूति कीर्ति नय विजय बड़ाई श्री चरणों में लय है,
प्रतिस्पंदन उर का पदवन्दन, मन रघुनंदन मय है।

और आपका रोम-रोम में ओज-तेज पलता है,
आंखों का अंगार आपके तप के बल जलता है।

सांस सिहरती है स्मृति-मधु से अंग फड़कते बल से,
अवयव सभी अनुज के चलते अग्रज के मंगल से।

बंधु आपके कुशल क्षेम में जन-कल्याण निहित है,
और जगत की सुख-सुविधा भी उस तक ही सीमित है।

यह धृष्टता, चपलता, बचपन, बात बात में लड़ना,
उठा कठिन कोदण्ड, काल को छेड़ अकाल अकड़ना।

अग्रज सब में लगा आपका तेज-पुंज जलता है,
बनती प्रगति प्रतीति, लक्षमण जब मग में चलता है।

आप खड़े हैं अगर धूप में काया की छाया हूं,
इसीलिये बन अनुज सृष्टि में पीछे से आया हूं।

प्रकृति, धर्म अनुकरण, चरण की रेख बचाकर चलना—
है मेरा कर्त्तव्य दीप से लौ ले करके जलना।

मेरा कठिन स्वभाव और अनियंत्रित मन की चालें।
सधी आपसे से किसके बल पर तो फिर तीर उछालें ?

कौन ओर जो विष पी सकता समुद सहस्त्र फणों का,
समाधान कर सकता मेरे ज्वालामुखी प्रणों का ?

पी सकता है कौन हलाहल मेरी तरुणाई का,
कौन दूसरा पद ले सकता और बड़े भाई का ?

जिसके आगे उभर गयी हो सब मनकी तस्वीरें,
निखर चुकी हों नत-मस्तक पर विधि कीं विविध लकीरें।

उसके आगे आवेदन भी सकुच सामने नत है,
खुला सूर्य के सम्मुख जीवन-शतदल शत-प्रतिशत है।

मां ने सुना रुदन ही केवल और पिता ने हंसना,
बाल-सखा-दल ने पहचानी केवल तुतली रसना।

निरखा एक आपने मेरे मन-नभ की वह दूरी,
जहां छिपी दुखती रहती है अपनों की मजबूरी।

दुर्बलताओं को दुलार कर जिसने तेज जगाया,
और दुधमुंही उमर उनीदी सहला कर उकसाया।

वह हैं आप और सब अपने, कहने को अपने हैं,
लगता मेरे ताप, आप के ही तप में खपने हैं।'

धनुष निकाल सबल कन्धे से तरकस खोल बगल से,
लक्ष्मण ने रख दिया सामने बनकर निःसंबल से।

रामचन्द्र के चरण-कमल पर शीश लखन का नत था,
लगता था अगस्त्य के पद पर प्रस्तर विन्ध्य विनत था।

ओज तेज औदार्य पगों पर झुककर बना तरल था,
अनुतापित आंखों से कुछ बह चला विषाद विरल था।

राघव ने अनुतप्त अनुज के भुज को पकड़ उठाया,
विकल बंधु को आतुर हो वक्ष स्थल से लिपटाया।

लगता था विराग विप्लव-मुख विनयावनत बना है,
खिंची शिंजिनी पर तेवर के तप का तीर तना है।

जिसका है संधान सन्निहित सबल राम के कर में,
या कि भैरवी-स्वर संस्थित है बलि के बीच अधर में ?

बोले राम 'कठिन कण्टक-पथ पर जो बिना प्रयोजन,
अनायास चलने को, सब कुछ तज कर उद्धत हो जन।

तो उसके उन्मत्त-वेग को कौन संभाल सका है,
जग में कौन वीर कर-तल पर पावक पाल सका है ?

अनुज ! अगर अनुरोध तुम्हारा होता नहीं सफल है,
तो विधि के विधान का रहता एक पक्ष निर्बल है।

लोग कहेंगे तप को तजकर त्याग रहा घाटे में,
सिरज न सका अनल अन्तर का सिन्धु ज्वार भाटे में।

लक्ष्मण उठो ! संग बचपन से तुम हो लगे हमारे,
दोनों चलें सुदिन के सुख तजकर दुर्दिन के द्वारे।

उठो बन्धु उल्का से नभ का जलता नहीं हृदय है,
और अनुज के तृप्त-तेज से अग्रज का समुदय है।

तुम अपने ही अंग संग हो चलो कठिन कांटों में,
घर के सगे, समर के सहचर सब दिन सन्नाटों में।

प्राप्त कर आदेश अग्रज आ अनुज, बूंद से सागर सदृस तत्क्षण मिले,
लग रहा था भावना कर्त्तव्य से तोल कर के, राम ही लक्ष्मण बनें।
चरण का कर स्पर्श फिर आशीष ले, शेष ने सिर पर चढ़ाया धूलिकण,
सृष्टि को फिर दृष्टि ही नूतन मिली बंद्य वैभव से गया बन वन-गमन ॥



छठा सर्ग

अग्रज की आशीष और अनुमति ले विपिन-गमन की ,
आंखे चमक उठीं सेजस्वी दृढ़-प्रतिज्ञ लक्ष्मण की ।

चरण-धूलि से रामचन्द्र की सीता की सम्मति से ,
चले उर्मिला के मन्दिर की ओर लखन द्रुत-गति से ।

सोच रहे थे यह विवाह के बाद विदा की बेला—
का अद्‌भुत संयोग विधाता ने क्या कौतुक खेला ?

पाणि-ग्रहण कर पल भर को भी मोद नहीं दे पाया ,
मैं पति, पत्नी की गरिमा को गोद नहीं दे पाया ।

वारि-हीन बादल-सा सूखा मैं हूं वह बिजली सी,
कैसे हो संयोग काठ सा मैं वह कुमुद-कली सी ?

राम-चरण-रत मानस मेरा निरासक्त संसृति से,
मैं अग्रज का अनुगामी हूं वचन और मन कृति से।

कहां रिक्त है स्थान जहां मैं पत्नी को दूं आसन,
एक बन्धु व्रत और उन्हीं का है मुझ पर अनुशासन।

प्रियतम ने कांपते करों से मंजुल घूंघट खोला,
और उर्मिला का खिल आया सुन्दर मुखड़ा भोला।

उद्घाटित कर दिया सुमित्रा-सुत ने पट आनन का,
खुलता है आवरण यथा अनुभव से अन्तर मन का।

अथवा कमल-कली को डरकर पहली किरण उघारे,
या कि प्रभात रात का चुपके से आवर्त उतारे।

लज्जित-मुख की ज्योति सुबह-सी धुंधली कुछ लगती थी,
निद्रित दृग सी दीप्ति लक्षमण की जिसमें जगती थी।

एकाकार हुआ नयनों का सित शशि-मुखी उजाला,
उड़े बरूनियों के खग, जिनको लज्जा ने था पाला।

एक ओर तप, सरस-सिन्धु का तल बन कांप रहा था,
और दूसरी ओर वारि-निधि, विधु-मुख नाप रहा था।

दीर्घ सांस ले दृढ़-वपु बोले 'मानिनि व्यंग सरल है,
किन्तु परिस्थितिवश इस अवसर पर, बन गया गरल है।

आया था मैं वन जाने को लेने विदा तुम्हारीं,
जहां राम सीता चलने की करते हैं तैयारी।

वृद्ध और कामांध पिता ने अवध उदास किया है,
कौशलेश को चौदह वर्षों का वन-बास दिया है।

मैं भी उनके साथ रहूंगा बन कर पायक प्रहरी,
प्रमुदित-प्रात जहां बीता है बीते वहीं दुपहरी।

जिसके संग रंग यौवन का रह-रह कर निखरा है,
बे-सुध वय की निधि का जिसके आगे कोष भरा है।

उनके तज कर चरण लक्ष्मण की न कहीं पर गति है,
समझ रहा हूं प्रिये, तुम्हारी भी इसमें सहमति है ?'

पहले समझ विनोद, मोद में लखन-प्रिया मुस्कायीं,
पर गीले लोचन पति के लख कर आंखें भर आयीं।

कहा उर्मिला ने 'क्या सच है बन कर विकल विनीता,
ज्येष्ठ देव के साथ जा रही वन को भाभी सीता ?

तब फिर मैं भी तुरत चलूंगी प्रियतम संग तुम्हारे,
राज योग विष-योग अग्निकण यह आभूषण सारे।

अगर न निरखूं इन नयनों से प्रियतम का मुख प्यारा,
'अवधपुरी रौरव वैतरणी-सी सरयू की धारा।'

कहा उर्मिला ने आंखों में भर कर उर्मिल पानी,
'यह अद्‌भुत संयोग अवध की पूरी हुई कहानी।

जंगल ही था, जब कि जनकपुर में हम नहीं मिले थे,
अब न कटेंगे एकाकी दिन जैसे वे पहले थे।

अब तो मन संयोग भोग का भागीदार बना है,
कौशिक मुनि की कृपा, हमें वन-विजन-विहार बना हैं।

आंखे लेकर भरी हुई उर्मिला तनिक मुस्कायी,
जैसे सजल मेघ के नीचे चन्द्रकला झुक आयी।

बोली फिर 'यदि भाग्य रेख का बना वृत्त है वन में,
तब फिर वहीं कटे यौवन यह मिले जहां बचपन में।

साथ चलूंगी मैं भी वन में अब मन में हैं आया,
जहां रहेगा बादल उसकी वहीं पड़ेगी छाया।'

सिहर उठे सौमित्रि ओज के आगे आग जली थी,
तब तक और सुमित्रा की सौभाग्य वती संभली थी।

कहने लगी कि मां के हो सुत अग्रज के अनुचर हो,
सच है, उतना ही सच यह भी किसी वधू के वर हो।

मां के मोद, विनोद सखा के, भुजबल हो भाई के,
सबसे पहले किन्तु तृप्ति तुम मेरी तरुणाई के।

प्रियतम प्राणनाथ के सारे सम्बोधन झूठे हैं,
क्या कहते हो देव अकेली अबला से रूठे हैं?

दीप-शिखा सी हिली उर्मिला उलझा तनिक उजाला,
और पलक से गिरा बूंद वह जो था दृग ने पाला।

सप्त-पदी के सहचर भावुक भाग्य भांवरी के हे,
एकाकी ध्रुव-धर्म सांस की सांझ सांवरी के हे;

हे यज्ञानल की लपटों के ओज, मिलन मण्डप के,
पाणि-ग्रहण के प्रियतम, परिचित पूर्व जन्म के तप के।

ज्वलन शील सौहार्द समन्वित सबल स्नेह के दानी,
पौरुष पुष्ट प्रेम के प्रेरक निश्चल निर्मम प्राणी।

अग्नि-पुंज उद्दीप्त धराधर रामानुज निर्मोही,
जगत बाटिका में खिलते हैं संग सुमन तो दो ही।

यों उपवन में फूल बहुत एकाकी ही रहते हैं,
आतप, वर्षा, शीत, शिशिर जो अलग-अलग सहते हैं।

उसके भी सुगन्ध होती है, सुरभि मिलन का रस है,
जो मीठे कर बोल मधुप के बह उठती बरबस है।

बड़ी मिलन की महिमा जग में प्रेमी जन गाते हैं,
देह धरी है अगर, निभाने सभी नेह नाते हैं।'

उठी लाड़ली लखन लाल की ओर लपट सी कांपी,
बढ़े कहां तक राह रीति की पहले से थी नापी।

दृढ़ देदीप्य खड़े रामानुज भी कुछ हाले डोले,
और चुराकर आंख अनमने-से होकर के बोले—

'मैंने जब से संज्ञा संसृति में स्मृति मधुर सहेजी,
और राग रस की नगरी में की जितनी रंग रेजी।

सबमें धुला रंग राघव का रोचक बन जाता है,
दृग-पट से जीवन के घट का सब रस छन जाता है।

प्रकृति पुरुष दो रूप जगत के, मुझे दूसरा प्रिय है,
मैं हूं विवश, गरल यदि पहला, लगता अपर अमिय है।

जन्मकाल से ही जिस विधि ने रजत शंख पकड़ाया,
उर की ले रसधार, अनलवत् असहनशील बनाया।
जिसने वक्षस्थल में बांधे तुरग त्याग के तप के,
आंखोंके अंगार उघारे अरुण-राग आतप के।

जिसने सुमन छीनकर कांटों की पहना दी माला,
जिस विरंचि ने पानी ले, पलकों में पावक पाला।
उसे न रुचता है लगता यह मुझको मिलन हमारा,
किरण कालिमा-मयी, सांझ से दूर बहुत ध्रुवतारा।'

लखन लाल अवनत आनन से जो कुछ भी कहते थे।
उसको पहले अपने अंतर-पाहन पर सहते थे।
उसे सुलभ कर पुनः यथावत् पत्नी को देते थे,
अपने तीर स्वयं फिर उल्टे अपने पर लेते थे।

बोली फिर उर्मिला उमड़कर' जहां न चलता बस है,
उस असफलता के विदग्ध उर में भी एक उमस है;
जिसकी आंच गला देती है पर्वत की निठुराई,
अंचल में उस बालातप का बल लेकर अब आई।

अब तो बनो न निष्ठुर निज के निश्चित नियम निबाहो,
अगर वीर हो उसे करो मत विलग कि जिसे विवाहो।
आतुर कातर कुपित उर्मिला भीगी भाव भरी-सी,
लक्ष्मणके उन्नत ललाट पट की रेखा उभरी सी।

कौंध गई विद्युत् सी बादल-सा कट गया विनय था,
किया उर्मिला ने उस क्षण कुछ ऐसा ही अभिनय था।
रामानुज की रुकी सांस फिर लगी ऊब सी मन में,
तेज तरल कातर कंपित था पानी बन लोचन में।

और झुकी पलकों ने चुपके से दो बूंद गिराये,
ऐसी उड़ी फुहार प्यार की रोम-रोम भर आये।
निरख निकट निरूपाय नदी से कंपित निर्मल तन को,
अंग अंग थे उन्मद नद से, आतुर आलिंगन को।

सहसा चमक चढ़ी आनन पर दौड़ गयी अरुणाई,
रामानुज ने आलिगन तज ली भुज भर अंगड़ाई।

अग्रज के कंधे पर धनु की टेढ़ी कोर कड़ी-सी,
तीरों की कतार तरकस में लख तैयार खड़ी-सी।

जाग पड़ा जांगर रामानुज का उठ पड़ा मनुज था,
अन्तर का आवेश तोलने लगा दाहिना भुज था।

जो छूकर तत्काल प्रत्यंचा की झंकार उठा था,
जिसमें बल बारिधि से बरबस बनकर ज्वार उठा था।

दिखने लगे दूर वन-पर्वत, कुश कांटों का मग था,
त्याग तपी का तनिक तरल बन अधिक उठा कुछ जग था।

निरखा नियम-विधान प्रकृति का बहु विधि, विधि का लेखा।
खिली दृश्य में ज्वलित हुतासन सी लक्ष्मण की रेखा।

हुआ ओज उद्दीप्त, सांस भर वृषभ-स्कंध कुछ फूले,
गरम हो गया रुधिर रोष के उठने लगे बबूले।

छाती तनी, कनक-काया की निखरी ज्योति खरी सी,
और रही उभरे वक्षस्थल में कुछ वायु भरी सी।

उसे छोड़ तक्षक-सी लक्ष्मण तत्क्षण कुछ संभले थे,
लगता था तूफान तोलकर लेकर साथ चले थे।

चले चरण, चमके अग्रिम पथ चढ़ी भृकुटि बांकी थी,
अग्रज का आदेश संग में था, अनुमति मां की थी।

समझ लिया सौमित्रि-प्रिया ने तीर हाथ से छूटा,
जो कुछ था अवशेष धैर्य वह उस अवसर पर टूटा।

जैसे बादल बिंधे किन्तु फिर भी आगे बढ़ जाये,
और न बिजली को पलभर भी अन्तर से अपनाये।

चमक कौंध रह जाए चपला जैसे नभ नियमन में,
वैसे ही आवेश समाये सभी श्वास बन मन में।

उठी उर्मिला, उसके उर का भी उमगा उजियाला,
और कपोलों ने अंतर की अरुणिम कान्ति उछाला।

चेतन-चरण चले चुपके से और वदन अवनत था,
उद्धत था जो, सुमधुर हो वह, उर भी भाव विनत था।

रामानुज की उद्धांगिनि ने घी के दिये जलाये,
कनक-थाल में रोली लेकर रोचक सुमन सजाये।

अंतर में भर कर द्युति, दीपक को अंचल में पाले,
आयी पति के पास उर्मिला बलि की बाती बाले।

छलक उठे थे नयन, पुलक से पलक-पलक बोझिल थी,
लगता था आवेश-मुखी उल्का हो गयी शिथिल थी।

मुस्काते अधरों से पत्नी, रुठे पति से बोली–
'चलो हो गयी जो होने को भी कुछ हंसी ठठोली।

जाओ, विदा कर रही प्रियतम तन से मन प्राणों को,
झेल रही हूं अपने उर पर विषम विरह बाणों को।'

बलि की बिजली बनी उर्मिला, रामानुज बादल थे,
होने लगी आरती, सचमुच उत्तेजक वे पल थे।

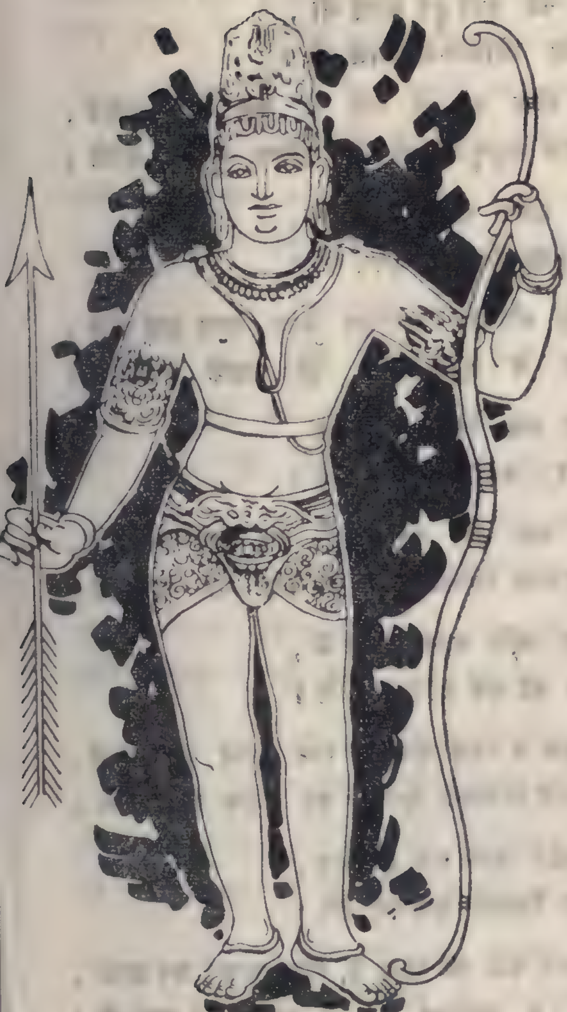
दीपक की लौ में उजियाली, लगी आग थी उर में,
लखन लाल का तन दीपित था, मन था मोद मधुर में।

आभा ने आरती उतारी आभासित आनन की,
हार उर्मिला की चमकी थी, ज्योतित जय लक्ष्मण की।

रुचिर रोचना कर मस्तक पर चरण कमल पर नत हो,
कहा उर्मिला ने 'अब निर्णय क्यों न सर्व सम्मत हो?

होठों पर थी हंसी और रोदन लय था लोचन में,
काया थी कनकाभ, उर्मिला के विषाद था मन में।

उर्मिला की आरती ले चल दिये ज्योतित वदन उर्मिला के कान्त, फिर कवि ने कहा
राम आगे, बीच में थी जानकी पीछे लखन, थी अयोध्या आँख से ओझल हुई



सातवां सर्ग

स्तब्ध समीर गभीर शान्त था, नीरव वह रजनी थी,
किसी वृक्ष के नीचे शय्या कुश साथरी बनी थी।
राम और सीता सोये थे, बांहों पर स्थिर सिर थे,
वीरासन में बैठे लक्ष्मण देख रहे फिर फिर थे।

घनी अंधेरी रात वात में बहता वेसुधपन था,
और बगल में नीर नदी का निद्रित-सा निःस्वन था।
मुकुलित थी वनराजि संतुलित सुरभि गंध सोयी थी,
शुभ्र चांदनी से वन पथ की श्यामलता धोयी थी।

ऊंघ रहे थे तरु, तिनकों की भरी हुई आंखें थी,
पथिक पखेरू के दृग तंद्रिल बोझिल-सी पांखें थी।

झींगुर बोल रहे थे पत्ते थे चुप सांस समेटे,
सुमन सधे मधुलुब्ध बंधे थे संचित सुरभि समेटे।

रामचन्द्र लेटे थे भू पर ऊपर छांह गगन की,
शय्या पर तृण तोड़ रही थी सुख-सुविधा त्रिभुवन की।

जाग रहे सौमित्रि शरासन बाण कान तक ताने,
वीरासन में बैठे सादर हो सतर्क सिरहाने।

शव-से शिथिल सुमंत्र पड़े थे लगे शिला के पट से,
रथ था खड़ा दूर बन पथ पर, अश्व बंधे थे बट से।

तरकस कसे पीठ पर पुट्ठों पर बाघम्बर बांधे,
शान्त सशस्त्र निषाद बगल में बैठा था चुप साधे।

बोला शृंगबेर पुर का पति अति कातर बानी में,
'प्रकृति सिरजती है पंकज को पंक और पानी में।

मानव हम न परख पाये पर रत्न धूलि के कण में,
भर न सके विश्वास सुरक्षा का सशंक लक्ष्मण में।,

अपने आसन से कुछ आगे और हाथ भर हट कर,
करने लगा विवाद लक्ष्मण से निषाद कुछ सट कर।

'इतना कम क्या हम राजा हैं, राम, लखन वन बासी,
अंधकार में अंतर्हित है युग की ज्योति उषा-सी।

अमिट लेख अनिवार्य अमंगल माथे से मेटे हैं,
वे रघुवंश कुमार राज तज जंगल में लेटे हैं।

जिनका अन्न रुधिर बन कर के दौड़ रहा रग-रग में,
दे न सके उनको सुख-सुविधा दुख-दुविधा के जग में।

यह असह्य उपहास दास के रहते आप न सोयें,
और आंसुओं से अंधियारी सारी रात भिजोयें।

मेरी शक्ति भक्ति परिजन की पुर-जन की रखवाली,
बचा न पायेगी आंधी में क्या उस लौ की लाली ?

जिसमें लगा हुआ है दीपक बुझा जगत की गति का ,
और प्रेरणा में जिसके है प्राकृत रूप प्रगति का ।

जब तक एक बूंद भी नस में बचा रक्त का बल है ,
कालदण्ड भी तब तक सोते राघव पर निष्फल है ।

सोयें आप धनुष भाथी ले मैं पहरे पर रत हूं ,
प्राण हथेली पर धर करके रक्षा में उद्यत हूं ।'

कहा लखन ने पोंछ अश्रु के स्रोत प्रवाहित खारे ,
'बंधु विवश हूं, बाण चढ़ाये बैठा हूं मन मारे ।

मेरी बाहों का बल सोया धनुष तीर झूठे हैं ,
त्राता कोई नहीं विधाता असमय में रूठे हैं ।

मैं जीवित हूं, ज्येष्ठ बन्धु का सिंहासन सूना है ,
दिला न सका स्वत्व सहचर बनकर दुख यह दूना है ।

जब तक अग्रज आंख न खोलें, नहीं जगत-पति जागें ,
मुझसे प्रातकाल की पूजा की सामग्री मांगें ।

तब तक मेरी पलक न गिरती यह बन गयी प्रकृति है ,
उसको उतना ही फल मिलता जिसकी जितनी कृति है ।

ज्येष्ठ-बंधु धरती पर लेटे उर में ताप छिपाये ,
कैसे नींद अनुज की आंखों में बरबस भर जाये ?

कैसे वह सोये जिसका सौभाग्य स्वयं सोता है ,
धूप चांदनी में जो हरदम खुले नयन धोता है ?

तिनके सा तज राज आज भिक्षुक सी भष्म रमाई ,
कैसे लगे नींद सोता हो भू पर ऐसा भाई ?

जिसका पीकर तेज प्रभाकर प्रति प्रातः आते हैं ,
पवनदेव जय घोष कान में जिसका कर जाते हैं ।

वह प्रचण्ड ऐश्वर्य चन्द्रमा के आभा अमृत सा ,
सकल सृष्टि के इकतारे का एक तार झंकृत-सा ।

जिसकी बुद्धि विहान, उषा-सी मति प्रतिभा वाली है ,
बनी वेद की ऋचा बचा जो अंश अंशुमाली है ।

इंगित लेकर इन्द्र स्वर्ग का शासन तंत्र चलाते,
जिसका विरद किरन के किन्नर प्रातकाल उठ गाते।

जिसका सुन ज्या-घोष काल भी कंपमान होता है,
वही सिंह सम्राट बनैली धरती पर सोता है।'

अपने आंसू पोंछ प्रत्यंचा अंगुलित्र से साधे,
बोले लखन लाल, कटि-तट को बल्कल पट से बांधे।

'हम तो यहां पड़े जंगल में जोड़ नियति से नाता,
कैसे होंगे वहां अवध में पड़े पिता औ, माता?

राज महल का क्रन्दन उठकर शान्त हो गया होगा,
सुलग अवध का शीतल अंतर्प्रान्त हो गया होगा?

मुकुट महीं पर लुंठित होगा, कुंठित होगी काया,
होंगे पड़े अचेत पिताजी लेकर ममता माया।

स्वरारोह रोदन का मुख से उर पर उतरा होगा,
सामूहिक विषाद विप्लव बनकर के बिखरा होगा।

व्यक्ति-व्यक्ति में विष व्यापा होगा कैकेयी कुल का,
वातावरण क्षुब्ध अब होगा जनसमूह संकुल का।

शत्रु साधते होंगे अवसर दुर्दिन दिखते होंगे,
व्यथा कथा की बैठे कुल-गुरु पोथी लिखते होगें।

अवधपुरी से तुरत भरत को गया संदेशा होगा,
पाकर जिसे उन्हें क्या अचरज और अंदेशा होगा?

देख दूत को दुखी न कुछ क्या मुख से बोले होंगे,
मुझे नहीं विश्वास भरत भी इतने भोले होंगे?

जितने सीधे बनकर अग्रज ने तज राज दिया है,
कैकेयी का कंटक लेकर के दे ताज दिया है।

पिता न जीवित रह पायेंगे बिना राम निश्चय है,
मातायें भी मरें न संग में मुझे यही तो भय है।

क्या शत्रुघ्न संभाल सकेंगे एकाकी कोलाहल,
कौन सुमित्रा कौशल्या को देगा बाहों का बल?

माता मेरी देख अनुज का मुख तो सुख पा लेंगी,
किन्तु बड़ी मां किसकी छवि को पलकों में पालेंगी ?

जिनका एक मात्र सुत वन में भटक रहा मन मारे,
और कुल-बधू वल्कल पहने जिसके जिये सहारे।'

सांस छोड़कर सर्प-सरीखी लम्बी भर कर आहें,
चढ़े तीर पर तनिक तोलकर क्रमशः दोनों बाहें;

सावधान हो गये मौन बन, सखा शिथिल हो डोला,
पीकर के विषाद कानों से तब निषाद भी बोला––

'यह दुख की दावाग्नि न वन को कहीं भष्म कर डाले,
निष्ठुर नियति-नियामक अपनी आकर सृष्टि संभाले ?,

चमक उठे सौमित्रि चेतना थी झलकी आनन पर,
कहने को दुख सुख तुलते हैं अपने अपने मन पर।

हर्ष-विषाद दमित मन के दर्पण की दो छायायें,
क्रमशः कर्म-किरण-माली जिसको जिस ओर घुमायें।

उसी ओर पड़ता है उसका अंधियारा उजियारा,
केवल कर्म, न फल पर है उसके अधिकार हमारा।

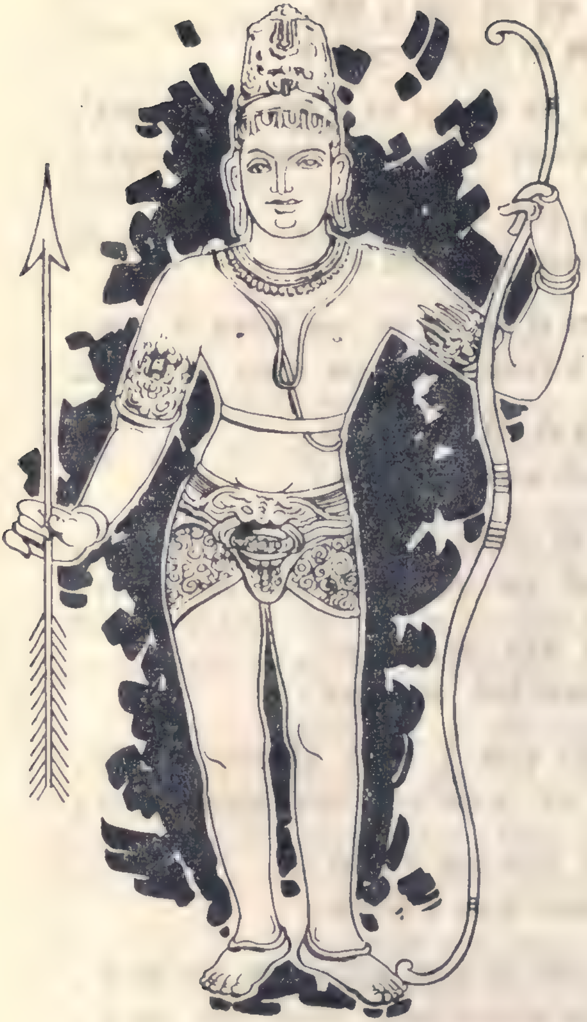
किसे दोष दूं, उर में देकर अनल आंख में पानी—
जो भर गया, उसी की चलती जीवन में मनमानी।

मिली किसी को मृदुता मधुरस कोई घोल रहा है,
कोई सुख शय्या पर अपना परिकर खोल रहा है।

कहीं रात के सपने दिन में पड़ते हैं दिखलाई,
और किसी के सुर में बजती है सुमधुर शहनाई।

मुझको मिली आग है जग भर को है मिला अंधेरा,
तब मेरा ज्वलंत जीवन दे कहां कहां पर फेरा ?

लक्षमण ने तीर धनु पर तोलकर, इस तरह फेंका उजाला आंख का,
जिस तरह उदयाद्रि पर उगता हुआ, फेंकता है सूर्य अपनी रश्मियां।



आठवां सर्ग

राम, लखन कर पार त्रिपथगा बने विजन-वनचारी,
सचिव सुमंत्र, निषाद संग में शोभित जनक दुलारी।

पहिला दिवस दूर जंगल में पर्वत नदी कगारे—
छूटे राज समाज सहज सुख ग्राम नगर पुर सारे।

सीता राम लखन पुरजन से बिछुड़ बने निर्मोही,
सघन वृक्ष के नीचे कुछ पल बैठे तीन बटोही।

बोले राम बंधु के लोचन में उंडेल उजियाला,
'सच में अब कंटकाकीर्ण वन-पथ है आने वाला।

यह पहिला संयोग भोग के बाद तपी जीवन का,
खिन्न न होना बंधु देख पट अद्भुत परिवर्तन का।

अब मनुजत्व ओज को सम्मुख कर वन में आया है,
सुख सपनों को छोड़ कंटकों में कूदी काया है।

मद-मत्सर पद-लोभ धुलेंगे धवल झील झरनों से,
जीवन का श्रृंगार सजेगा वन के उपकरणों से।

सत्ता का संसर्ग अकारण बना कलुष था मन का,
भाव-भष्म से धूमिल था कुछ अंगारा आनन का।

अब तो चढ़ो सूर्य से ऊपर सागर से इठलाओ,
बन्धु ! तपस्वी बनो, विजय की विमल-विभूति रमाओ।

दर्भांकुर से लिखो अजिन पर ऐसी कलित कहानी,
जनता कहे त्याग सच्चा है झूठे राजा रानी।'

राम खड़े थे शस्त्र-सज्ज सीता सलज्ज शंकित थीं,
पूर्ण वाक्य में अर्धबिन्दु-सी सिमटी-सी अंकित थीं।

बैठे राम वृक्ष के नीचे भूपर बिना बिछाये,
जैसे खिला कमल कीचड़ पर कोमल पंख फुलाये।

सहसा देखा थकी जानकी के उतरे आनन को,
किन्तु अधिक उत्साहित अनुदिन होते अनुज लखन को।

लगा अकारण लक्ष्मण का तप क्यों खप रहा विपिन में,
ज्वालामय यौवन क्यों उलझा दृग-जल के दुर्दिन में।

रामचन्द्र थे आकुल मन में, पर गभीर आनन था,
अवधपुरी अन्तर में उतरी, बाहर बीहड़-वन था ?

उलझे तीर लगा तरकस में दृष्टि बगल में डाली,
जहां सुमंत्र खड़े नत सिर थे ले रथ की रखवाली।

चमकी फिर सुधि और गगन-मन तनिक तेज से सिहरा,
देखा पीछे अनुज खड़े थे और लगा था पहरा।

लम्बी सांस खींच निज कर से अपना मुकुट उतारा,
और लक्षमण पर आंखों का मधुरस डाल पुकारा।

बोले 'बन्धु निकट बट तरु का क्षीर' छाल पर लाओ,
और आज निज कर से अग्रज की मुनि-जटा बनाओ।

कौशाम्बरी कलेवर बदलो बल्कल वसन पिन्हाओ,
चँवर डुलाने को जिस पर थे, उस पर धूलि उड़ाओ।'

लक्ष्मण बढ़े तनिक, फिर बोले 'रघुवर अवधपुरी है—
छूट गयो पीछे; दृग में अब तक आकृति बटुरी है।

अब तक उसके कनक-कंगूरे मन-नभ को छूते हैं,
सरयू के सुधि-बिन्दु नयन-पथ से श्लथ हो चूते हैं।

सोच रहा हूँ जो जन-रव की शिखा सिहरती छोड़ी,
सुलग रही होगी वह बुझकर अब भी थोड़ी थोड़ी।

अभी न सूखा होगा आनन पर नयनों का पानी,
और विदग्ध, स्तब्ध जन-पद को मिली न होगी वाणी।

शिथिल बरुनियाँ बीन रहीं होंगी नत विगत क्षणों को,
मौन विषाद विलखता होगा पीकर अश्रुकणों को।

अवधपुरी की पुंछी न होगी वह आभा सिन्दूरी,
जो कि पिता के जीवन के मिस बनी निकट की दूरी।

क्या न काल ने मरण-मुखी तन तरणी होगी खेयी,
उस स्मशान नगरी में जीवित होगी बस कैकेयी ?'

'बन्धु' राम अपनी आंखों में भर कर उच्छल पानी,
बोले—'मैं था केवल बलि की वेदी का बलिदानी।

तुम सीता भी साथ लग गये यह दुख और सवाया,
जैसे गिरती है कगार के साथ नदी में छाया।

वृद्ध पिता की कीर्ति कैकयी मां के मंगल में है,
अब तो होंगे भरत अकंटक, कंटक जंगल में है।

आत्मप्रशंसा नहीं अनुज पर मुझसे सरल सुवन को,
भेज अवधपति आनन्दित होंगे क्या बीहड़ वन को ?

सच में हूं मैं सरल, मूर्ख भी हूँ जग यही कहेगा,
किन्तु उठालूं धनुष, अगर फिर जीवित कौन रहेगा ?

छोड़ राज-पद सेनापति का यदि अधिकार संभालूं,
अब भी अवधपुरी के शासक पद का भार उठा लूं।

मुझ में बल हैं, विह्वल बन कर के कहती हैं बाहें,
अवध राज पद की अब भी तो खुली और भी राहें।

सिंहासन का अधिकारी मैं पागल बन फिरता हूं,
यह विडम्बना, बलि-वारिधि में तिनके-सा तिरता हूं।'

टपक पड़े दो बूंद, राम का कंठ रुद्ध हो आया,
अनुज लक्ष्मण ने कुछ कहने का अवसर पाया।

सुलग रहे थे ज्वाला-मुख से धुआं छोड़ उच्छ्वासी,
लहक उठे फिर लक्ष्मण के मन के कण, मति समिधा-सी।

और धनुष पर धर कर के कर वक्षस्थल कर चौड़ा,
कहा सुमित्रा-सुत ने कुछ फिर रुधिर रगों में दौड़ा।

फिर नत मुख हो देखी धरती टिके न पलभर लोचन,
निरख बन्धु की ओर पुनः बोले दृढ़-स्वर में लक्ष्मण—

'बन्धु दैन्य-दुख, दुर्बल मति सरिता के ऐसे तट हैं,
अगर कटे वे सटे सलिल, में रुके न बलि के बट हैं।

वह उत्साह अनलवत् सीता जिसकी पा चिनगारी,
राज छोड़ कर कुश-कांटों की ओर चली सुकुमारी।

जिसकी लेकर लपट लखन का मन-कन कनक बना है,
ज्वाला-मयी जानकी जन-जन कर जन जनक बना है।

बन्धु राज-पद से ऊंचे हैं जंगल के तरु सारे,
सिंह शावकों के सिंहासन हैं गिरि नदी कगारे।

विभव भोग से हट कर के मन पावक-कण बनते हैं,
जंगल में ही जन-मंगल के बलि-वितान तनते हैं।

मानव स्वयं स्वर्ण की आभा को देने वाला है,
आंख फेर ली यदि सुमेरु से तो फिर वह काला है।

अवधपुरी तब थी जब हम थे अब वह निविड़ विपिन है,
अब तो वन ही बनी अयोध्या लगती उनसे घिन है—

जो वैभव के बीच बन्धु का स्वत्व संभाल न पाये,
भोग-रोग से रुग्ण प्राण को तप में पाल न पाये।

अभी कहा था स्वयं आपने जीवन अब निखरा है,
वन के बीच व्यक्ति का कौशल दिन-मणि बन उतरा है।

जिसकी आभा से लिखते इतिहास धनुष-धारी हैं,
और सरल संसृति के बनते मानव अवतारी हैं।

धर्म धनुष दो अस्त्र आज भी हम तन में धारे हैं,
जो जंगल की निविड़ निशा के चांद और तारे हैं।

भुज-बल पर अधिकार भरत का नहीं न यह नृप-पद है,
वीर जनों का केवल जग में गाता विपिन विरद है।

सिंहासन सबका है लिपटा हुआ पंक में प्रण के,
किन्तु विन्ध्य के शिखर भाग में पड़े राम-लक्ष्मण के।

कौन मांग सकता है हमसे कष्ट सहन के घोड़े,
जिन्हें हांकता शौर्य-सारथी जीवन-रथ में जोड़े।

मुकुट शीश पर रवि का उर पर उत्तरीय ऊषा का,
शोभित है शृंगार नियति पर विधि की मंजूषा का।

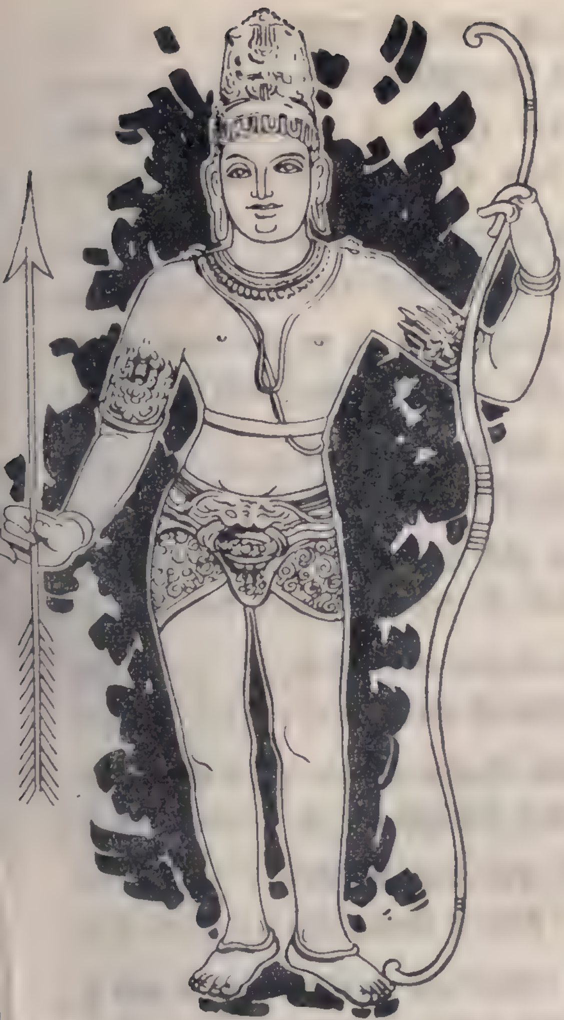
झरनों के उच्छल प्रवाह से आन्दोलित जीवन है,
और पर्वतों की चोटी पर चढ़ा सिंह बन मन है।'

लक्ष्मण के उद्‌गार अग्निकण बन-बन कर झरते थे,
होम-कुंड में राम हृदय के चुन-चुन कर धरते थे।

सीता का घृत पड़ा धैर्य का धधक उठा अंगारा।
रामचन्द्र का बोझ लखन ने करके यतन उतारा।

वेग हीन सिन्धु से नयन अश्रु ज्वार रोक, रामचन्द्र शान्त हो दिनान्त लगे देखने,
बोले'बन्धु। कुश को बिछा दो साथरी समीप, और किया भूमि पै विराम वीर वेष ने।

लपट नहीं थी किन्तु अनल बुझा था नहीं, नींद के नयन दिये बांध रात-रेख ने,
डोल गयी धैर्य की धरा-सी राम साधना को, फूंक मार फन से संभाल लिया शेष ने।



नवाँ सर्ग

राम-लखन तमसा के तट पर उद्‌भट मुनि-पट धारी,
सत्ताहीन शस्त्र-सज्जित पर बाँके विपिन विहारी।

धनुष-बाण पाषाण शिला पर तरु पर दो तलवारें,
बल्कल वसन टंगे डालों पर सीता समुद उतारें।

चलने को तैयार तपस्वी सानुकूल वन-पथ था,
सूर्य वंशजोंके समक्ष चढ़ रहा सूर्य का रथ था।

'चरैवेति' कह उठे राम उद्दाम बन्धु को देखा,
जैसे खिंची उमड़ते अंबुद पर विद्युत् की रेखा।

सीता ने शस्त्रास्त्र, शिला से सत्वर पोंछ उठाया,
पति देवर के वृषभ-स्कंध पर फिर उनको लटकाया।

दायें कर में दोनों के दे खड्ग तनिक हट आयीं,
और निरख दो शस्त्रधारियों को सीता मुस्कायीं।

सम्मुख खड़े सुमित्रानंदन को दे कुशा कुदाली,
जनक नंदिनी ने फिर अपनी दृष्टि बगल में डाली।

खड्ग और तूणीर तीर धनु पर फिर आंख गड़ाई,
बोली फिर 'यह दुसह, संग हैं दोनों सुलह लड़ाई।

अब न चलूंगी साथ तुम्हारे प्रियतम दण्डक वन में,
क्यों कि अस्त्र के बल पर उठते जो विचार हैं मन में;

हिंसामय होते हैं वे सब कुटिल और कुत्सित हैं,
धनुर्धारियों के तन-मन-धन सभी रक्त रंजित हैं।

'धनुष-बाण पुरुषार्थ व्योम के चांद और तारे हैं,
बोले राम 'समय पर विषधर भी लगते प्यारे हैं।

अस्त्र-शष्त्र भी शान्त मनुज के भुज में बने सरल हैं,
नील कंठ के लिये सुधा सम वध के विविध गरल हैं।

खुले खड्ग की नहीं धार है पैनी चेतन मन की,
तीरों से हर कोर तुम्हारी तीखी हैं चितवन की।

मन से उठता धुआं ध्वंस का, आंखों से पानी है,
ज्वाला जल मिट्टी का पुतला साधारण प्रानी है।

लौह-रुधिर ललकार लड़ाई जड़ विकार जीवन के,
अस्त्र-शस्त्र उपकरण मात्र हैं क्षुब्ध मनुज के मन के।

मेरे लिये धनुष भी केवल धर्म-कर्म का बल है,
मल से मिलकर नहीं अपावन बनता गंगाजल है।

कवची राम रथी रण-प्रेमी सत्तावान नहीं हैं,
वन का बाना और यहां फल हैं पकवान नहीं हैं।

दर्भ अजिन, स्त्रुक, साकल निर्मल-जल कौपीन, कमण्डल,
वन में वेदी वेद ऋचा से संचारित तप का बल।

मीठे झरने गंध सुहानी वायु स्पर्श शीतल है,
मृग-छौनों का निश्छल विचरण किसको सकता खल है?'

बोली जनकात्मजा, 'प्रजा-रत राजा राम नहीं हैं,
तापस-वेष, कठिन संगर में आते काम नहीं हैं।

अतः चलेगा तीर आपका निश्चय ही वन-मृग पर,'
प्रश्न सिया का रहा अधूरा दिया पिया ने उत्तर।

बोले गूढ़ गिरा रघुनायक सायक धनु को छूकर,
'आयुध समराकार सिन्धु में तिरते ऊपर-ऊपर।

अंतर्हित हर द्वन्द-युद्धमें मन्द मनुज का मन है,
जो निरस्त्र पर त्रस्त चपलता से जिसके त्रिभुवन है।

मन हो साफ अगर तो क्यों, हथियार खून-से धोयें,
तिमिर पारदर्शी हो जाये तब क्यों दीप संजोयें?

सबल सिंह हो सरल अगर नख क्षत अक्षत बन जायें,
कानन के केसरी पहिन लें कंठी तिलक लगायें।

तब भी काम नहीं चलने का गीदड़ जो गरजेंगे,
छोटे बहक बिगड़ जायेंगे बड़े न यदि बरजेंगे।

अपने आयुध का पहिले संधान सभी को प्रिय है,
क्योंकि अंततः प्राणी हैं, यह प्राण सभी को प्रिय है।

प्राणों पर जब बन आती है तब बाणों का चलना,
उतना ही भाता है जितना खिले विटप का फलना।

जब उठता है हाथ घात से पहले ही रक्षा में,
बुद्धिमान भी पढ़ने लगता पहुँच बाल-कक्षा में।

तब कोई यदि शस्त्र पकड़ में अपने से आता है,
धर्मराज को भी रुचता है हमको भी भाता है।

यह है सहज-उक्ति क्षत्रिय की किन्तु धनुर्धारी हो—
आने का तात्पर्य और है व्यर्थ न मन भारी हो।

आराधन को नहीं श्रेय जो सर्जन को देती है,
मुनि की रेती से भी पावन खेतिहर की खेती है।

उस खेती को चर जाते हैं मृग-समूह में आकर,
जैसे यज्ञ भ्रष्ट कर जाते हैं पापिष्ट निशाचर।

साधु तपस्वी मुनिजन जो जप-तप में साधन रत हैं,
हिंसा के अभ्यस्त नहीं हैं असुरों से आरत हैं।

उनके आवाहन पर हम आए हैं असुरारी बन,
धर्म-साधना को समर्थ दुर्द्धर्ष धनुर्धारी बन।

भले-बुरों से भरी सृष्टि है जन-जीवन बांटा है,
जहां फूल है वहीं निकलता चुपके-से कांटा है।

बाघ, बाघ का बधिक न, कोई सर्प सर्प को डसता,
सीते रीते ही तरकस में बस विकार है बसता।

जिसका धनुष तना है उस पर बेधक बाण चढ़ा है,
वही तपस्वी है समाधि में रत हो प्राण चढ़ा है।

शांति-समर में भेद न कोई लक्ष्य अगर उजला है,
अस्त्र शस्त्र से हृदय जीतना भी तो एक कला है।'

रामानुज ने कहा 'बंधु रण-कौशल ही बंदित है,
ललित-कला ही नहीं अकेली इति है, अभिनंदित है।

तीर तूलिका दोनों ही अपने वितान तनते हैं,
पाप प्रदर्शन-भी करते हैं पुण्यवान् बनते हैं।

सच कहते हैं आप पाप क्या अगर पराक्रम भी है,
तप के साथ बलिष्ट बाहुओं का बल विक्रम भी है।

धातु एक जिससे अनेक आकृति विधान बनते हैं,
कुश-पैंती पैंतरे बदल कर धनुष बाण बनते हैं।

कलम-कृपाण रहें रचते इतिहास, सृष्ठि का क्रम है,
रंग रुधिर की रेखाओं का यह सारा जग भ्रम है।

जिन्हें सहेज सहज सर्जन शोभायमान होता है,
स्वर के कण-कण बीन नाद-गुंजायमान होता है।'

और फिर धनुष चढ़ा के बोले 'लघुबंधु,
देख लो न कितनी कला प्रधान कृति है।'

आसमान-सा विशाल वेष बादलों का बर्म,
और इन्द्र धनु की सहज अनुकृति है।
'भाभी युक्ति युक्त हैं' सुमित्रा-सुत ने कहा,
कि 'जनकपुरी में रही माधुरी प्रकृति है,
तीर से तिमिर चीर बांह उठा बोले,
'यहां समर-प्रधान सूर्यवंशी संस्कृति है।'



दसवां सर्ग

भरद्वाज मुनि के आश्रम से आगे चले बटोही,
ऊपर पर्वत पर चढ़ने को बने मार्ग थे दो ही।

जिनमें एक सरल था बाधक पर यमुना का जल था,
पथिक जनों को प्रिय उसकी ही लहरों का कल कल था।

अग्रज राम अनुज लक्ष्मण का हाथ पकड़ कर बोले,
'नौका बिना कौन जो आकर इन लहरों को तोले ?

चढ़ा बहुत पर गढ़ा न अब तक है जलयान कभी भी,
धन्यवाद साथी निषाद का वे दिन याद अभी भी।

अवधपुरी तज बाकी कुछ जब पहली रात रही थी,
श्रृंगवेर पुर पति ने सँग चलने की बात कही थी।

अनुज न उस दिन मुझको सूझा फिर वापस फिरना है,
वन के कुश-कांटों पर पगधर जल को भी तिरना है।

अतः हंसी आती अपने पर रिस भी थोड़ी थोड़ी,
मैं भी कितना वेसुध जिसने परसी थाली छोड़ी।,

सहसा हंसे सुमित्रानंदन अग्रज का पद चूमा,
आनन अनायास फिर बन की ओर चमककर घूमा।

चला मौन पुरुषार्थ, मुखर हर हिले सहम तरु-झाड़ी,
लखन लाल ने धनुष धर दिया पकड़ा कठिन कुल्हाड़ी।

दो सांखू के सूखे बिरवों को पल भर में काटा,
अनायास ही पास खड़े तरु खींच गए सन्नाटा।

उनको बाँध वेंत से विधिवत बना दिया वह बेड़ा,
जो यमुना में बहा जानकी ने जब उसको छेड़ा।

जामुन और कदम-कदली के पत्ते गए बिछाए,
जिस पर समुद राम सीता का हाथ पकड़ चढ़ आए।

खंती खुरपी कुशा-कुदाली धनुष और धर भाथी,
लखन लाल चढ़ गए अकेले केवल साहस साथी।

युगल राघवों ने फिर अपने अपने डांड़ संभाले,
नवल नाविकों का बल पाकर बेड़ा बहा हवा ले।

शीतल सरस समीर स्पर्श-मधु जल था नीला नीला,
संध्या की हर कोर सुनहली थी जग था चमकीला।

लहर लहर रंगीन झूमता मद से झोंका-झोंका,
बहते बेड़े को राघव ने आड़ लगाकर रोका।

इंगित किया अनुज को, सीता को निहार मुस्काए,
लखन रह गए चकित चार पल मतलब समझ न पाए।

चमके किन्तु नेत्र, कौतुक के अद्भुत अन्वेषण से,
अंग अंग जग गए राम के अंगुलि-निर्देशन से।

नील झील में सम्मुख विकसा था सरोज-वन सुन्दर,
अग्रज को अवलोक दृष्टि फिर पड़ी अनुज की उन पर।

समझ गए सौमित्रि और बेड़ा बह चला उधर को,
राघव की उंगली का इंगित तब था गया जिधर को।

सीता के पद नख निहार कर लखा कमल-कानन को,
और गौर से देखा प्रमुदित अग्रज के आनन को।

जटा-जूट कसकर, चंचल बल्कल से कटि-तट बांधा,
बांट दिया मन इधर उधर लक्ष्मण ने आधा आधा।

दोनों ओर कमल फूले थे, कानन के आनन के,
पहले किसको गहें प्रश्न था मन में सहसानन के।

अपनी अपनी ओर सभी में यद्यपि आकर्षण था,
भइया का संकेत लखन को सबसे श्रेष्ठ सुमन था।

कूद पड़े थे लक्ष्मण तत्क्षण आंख मूंद कर जल में,
जैसे बिजली गिरे नील नद के उन्मद अंचल में।

कंचन की काया तिरती थी नीलम के पानी में,
जैसे चले चन्द्रिका श्यामल बादल जल दानी में।

कल्मष चीर वीर की चलती बलि जैसे विक्रम में,
चलता तीर समर में जैसे किरण चमकती तम में।

उसी तरह बह गए वेग से रामानुज भुज बल से,
लौट पड़े बेड़े को पल में भर टोकरी कमल से।

भीगा तन मन संयत जीवन सधा हुआ निश्चय था,
बल से कढ़े सुमित्रानंदन क्षण अभिनंदन मय था।

एक हाथ से बूंद आंख पर पोंछ जटा के जल का,
और दूसरे में अच्छा-सा गुच्छा लिए कमल का।

नीला पानी पवन रसीला गीला हर उर पट था,
थोड़ी दूर लहर के घर से और रह गया तट था।

कहा जानकी ने देवर से 'पुरस्कार तो ले लो,
लखन लोल लहरों से फिर पीछे खुलकर के खेलो।'

डांड लगाकर रामानुज ने पीछे मुड़ कर देखा,
उधर खिंची भाभी के अधरों पर पतली सी रेखा।

जैसे देख विनम्र बाल रवि कमल-कली खुल जाए,
विनयशीलता के बंदन पर ज्यों ममता मुस्काए?

'देवर लो यह पुरस्कार है' बोली उठकर सीता,
एक कमल लो मुझसे तुमने जल को बल से जीता।

नत सिर देवर ने भाभी के कर से लिया सुमन को,
यथा सौम्य संकोच करे स्वीकार उदार नमन को।

बोली सिया, पिया से 'देखो दृश्य विरोधाभासी,
पंकज पाकर भी खुश है अंगारे का अभिलाषी!

लखन लिये थे एक हाथ में कमल पुंज,
डांड़ की दे आड़, दिया बेड़े को विराम था।

जैसे लालिमा से रंगा प्रात काल प्रीतिपूर्ण,
प्राप्त किये प्रेरणा प्रभासयुक्त याम था।।

स्वेत से शरीर से अधीर गिरने को हुआ,
नीर यमुना का जो पवित्र किन्तु श्याम था।

हंसे राम, सिया सकुचायीं और आयीं पास,
बोली 'मेरे देवर का कैसा दिव्य काम था?'

पार किया तीनों ने यमुना की लहरों का रेला,
आगत के अनेक द्रुमफूटे गत रह गया अकेला।

चित्रकूट की ओर चल पड़े रघुकुल के तपधारी,
बालमीकि मुनि के आश्रम ने अपनी प्रभा पसारी।

लिये आदि कविता का उर में मधुर भाव अविकारी,
मिले महा मुनि राम लखन सीता से बारी बारी।

राघव बोले 'जंगल में हम मंगल कहां मनायें,
मुनि वरेण्य इस चित्रकूट में कुटिया किधर बनायें?'

कहा आदि कवि ने 'जो सब में रमा हुआ चेतन है,
आश्चर्य कैसा अद्भुत यह वह भी अनिकेतन हैं!

और लखन की ओर देख फिर सहज भाव पहचाना,
बोले मुनि, 'रामानुज तुमको पर्णकुटी है छाना।'

रामचन्द्र ने कहा 'लक्ष्मण के हाथों में यश है,
मुझमें ही मुनिराज आज तो लिपटा कालायश है।

उठो अनुज खुर्पी खंती लो श्रम का सिंधु थहाओ,
हम दोनों के लिये कहीं पर सुन्दर कुटी बनाओ।,

उठे धराधर जैसे उठता है उत्साह हृदय में,
याकि अरूण अनुराग किसी कवि में रवि के समुदय में।

सिंह ठवनि सी गति उमंग में रंग नवीन सृजन का,
अंग अंग अरूणाभ संग में दृढ़ निश्चय था मन का।

देखा रामानुज ने गिरि पर एक जगह चौरस है,
और बगल में पानी बन बह रहा प्रकृति का रस है।

सघन कुंज निर्बाध नदी के जल को चूम रहे हैं,
कहीं झील में खिले कमल पर अलिकुल झूम रहे हैं।

फेंटा बांध कमर में लेकर कर में तेज कुल्हाड़ी,
साफ कर दिया आस पास के कंटक, जंगल झाड़ी।

और कूदकर एक वृक्ष पर चढकर उसको छांटा,
मोटे से आधार-स्तंभ को पर्णकुटी के काटा।

साल ताल श्यामल तमाल के पत्तों को फिर छाया,
रामानुज ने पल भर में ही पत्रावास बनाया।

सुधर गुम्बदाकार शिखर पर परिचय चिह्न अनोखे,
हवादार थे खुले कुटी के चारों और झरोखे।

'भइया लो बन गयी मड़इय्या अभिनन्दन है आओ,'
कहा राम ने हंसकर 'भावी को पहले दिखलाओ।'

सीता उठीं स्वयं मुसकाती हुई बढ़ गयीं आगे,
राघव भी पीछे पीछे चल पड़े प्रीति में पागे।

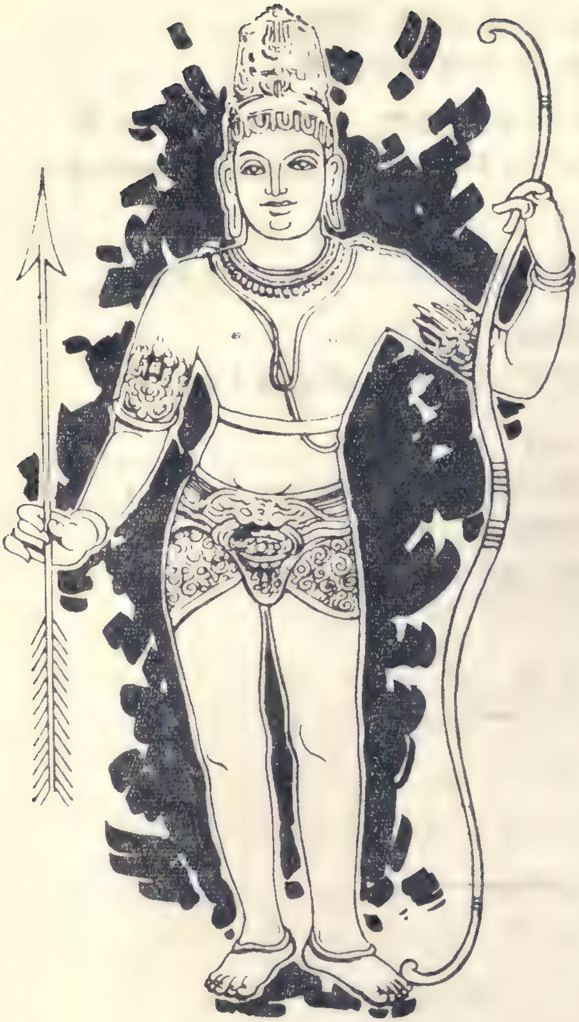
किया प्रवेश जनक तनया ने पहिले पर्ण कुटी में,
चरम चेतना चमके जैसे योगी की त्रिपुटी में।

रामचन्द्र भी पिले पर्ण-गृह में हो तनिक तिरीछे,
और गया गृहकार मौन हो सबके पीछे पीछे।
चमके नैन चारु रघुवर के रचना देख लखन की,
सहज साधना की अनुकृति पर स्वीकृति-सी श्रम-धन की।

राम ने प्रमादहीन अनुज करों को चूम,
ठोंकी पीठ और दिया धन्यवाद बार बार।

नाच उठा मन लक्ष्मण का मयूर बन,
ज्यों ही पड़ी श्याम मेघ की फुहार पै फुहार॥

आगे बढ़े मंद मंद भाव भरे रामचन्द्र,
'बोले आओ पास' फिर दोनों हाथ को पसार।
बांध लिया वाहु में विराट को ललाट चूम,
और कहा 'लघु रघुवीर लो पुरस्कार॥'



ग्यारहवाँ सर्ग

मन्दाकिनी मंद जल-कन से कन-कन सींच रही थी ,
फेनिल दुग्ध-वसन को पाहन-पट पर फींच रही थी ।

हंसती थी वनराजि विहंसती थी ऊपर अरुणाई ,
नीचे स्फटिक शिला पर शोभित तपोपूत तरुणाई ।

राम अकाम शरासन पर कर अपना फेर रहे थे ,
मधुर हास से विम्बाधर की विभा बिखेर रहे थे ।

और जानकी भीगे वल्कल वसन पसार रही थीं ,
कंचन की काया को श्रम से और निखार रही थीं ।

लखनलाल अपने आयुध कर स्वच्छ संभाल रहे थे,
ओज-तेज की आभा ऊपर और उछाल रहे थे।

सजग-भुजग प्रहरी से रह-रह कर फुफकार रहे थे,
अग्रज की आँखों से फिर आरती उतार रहे थे।

सहसा ही समीप में आहट हुई किसी पगध्वनि की,
रामानुज का फड़क उठा भुज, मुद्रा सिंह ठवनि की।

तब तक उठे राम आंखों पर अरुणिम अंजलिपुट था,
जैसे किसलय बनजवृन्त पर, सिर पर कनक मुकुट था।

और उड़ी चितवन की किरणें छिटकी चिनगारी थी,
संशय-भ्रम-तम भेद धैर्य से धुली सृष्टि सारी थी।

लक्ष्मण को इंगित से तत्क्षण अपने पास बुलाया,
और भरत की सेना का सारा संवाद सुनाया।

उछल पड़े सौमित्रि शरासन आकस्मात् चढ़ा था,
तीर चीर तूणीर तिमिर को अपने आप कढ़ा था।

सम्मुख लगे साल के तरु पर फिर चढ़ गए तुरत थे,
और उधर बढ़ रहे भयातुर भावुक बंधु भरत थे।

दोनों ओर द्वंद पर केवल उनमें यह अंतर थां,
पहिला था अनुताप अगर तो पश्चाताप अपर था।

कहा अनुज ने 'अग्रज देखो कितना निंदित जग है,
स्वार्थ-पूर्ति उपरांत और भी होता दंभ सजग है।

अंधे को बटेर ने दे दी ऐसी आंख अनोखी,
चारों ओर चिनगियां चुनती जिसकी चितवन चोखी।

बच्चे-सा बहलाकर मां ने राज लिया रघुकुल का,
बेटे ने लूटा वह वैभव अक्षय कोष अतुल का।

अधिकारी को भेज विपिन में घर में घुसे लुटेरे,
कहा लखन ने 'एक राजपद इच्छुक हैं बहु तेरे।

मलिन व्यक्ति की इच्छा पर अद्भुत शासन की शैली,
सिर पर चढ़ा मुकुट सोने का, लेकिन मति मटमैली।

सिंहासन से लगा पीठ बस, मरा दीठ का पानी,
उपकृत जिन की अनुकंपा से उन पर त्योरी तानी।

जिसका लेकर नाम जगत का लहराता जयध्वज है,
अलसाई-सी एक दृष्टि की सारी सृष्टि उपज है।

असुर-समूह-दमन से जिस की छिटकी कीर्ति सहज है,
वे हैं जिसके अनुज हमारा जो सच में अग्रज है।

उसका ही उच्छिष्ट भोगकर भरत बनें बलधारी,
चींटी के पर जमे मेढ़की ने पकड़ी चिनगारी।

चलो ठीक है यह भी अच्छा हुआ संग सेना है,
बाकी था वरदान और जो उसको भी देना है।

हमको दे वनवास पास जो आए सिंहासन के,
मिला न समर बने बेखटके मालिक राज-रतन के।

डूबे नहीं तीर शोणित में जिन से चढ़ी ने डोरी,
उनको मिले राज-पद अद्‌भुत यह विधि की बरजोरी।

उठा न सिर संकट में तिल भर मगर मुकुट का लोभी,
पड़े न पग पावक पर पकड़ी राह मिल गई जो भी।

लड़के फड़के नहीं पखौरे अकड़ी कभी न छाती,
बल न पड़ा माथे पर प्रतिभट देख नही मतिमाती।

अंगारे सा ओज न दहका लहका तेज न रण में,
अवधादिप हो गए त्रिया-हठ की उलझन के क्षण में।

राजपाट सुख छीन हीन ले भाग द्रोह-रत मन में,
अवध उजाड़ भ्रातृ-बध करने भरत आ रहे वन में।

राघव ने नीचे से अपने व्यंग बाण को मारा,
'हो सकता है हमें मनाने आया हो घर सारा।'

पावक से जल उठे लक्ष्मण और तनक कर बोले,
तप के बिना भोग के भागी भरत न इतने भोले।

मना न पाए जो माता को अपने लोलुप मन को,
धुला न पाए अरुणातप से छू अपयश के घन को।

अवसर पर ननिहाल न छूटा छोड़ा पुर-परिजन को,
जोखिम थी जब भूल अयोध्या बचा गए जनरण को।

उसका हो उदार उर इतना, उसकी झुकी पलक हो।
रघुकुल की विनाश लीला से जिसका भाल तिलक हो।

मां से मिला हुआ वर घर तज भोग रहे जंगल में,
बेटे से यदि मिला राजपद तो न जगह भूतल में।

फटी एक तह और बुद्धि की बिखरी वारिधि-माला,
अंतर का आक्रोश, पोंछ ले गया गहन तम काला।

उस क्षण लक्ष्मण का तन चमका निखरा और उजाला,
बालातप-सा आनन क्षण-क्षण किरण फेंकने वाला।

अपना तीर चढ़ा डोरी पर फिर अग्रज से बोले,
'सांपिनि की संतान सहज ही विषधर सांप सपोले।

इनसे अमृत निचय न संभव भइया धनुष उठाओ,
आग बुझा दो और कंदरा में मां को पहुंचाओ।

आप शांत होकर ही लगते हैं सदैव रण रत से,
अतः लक्ष्मण को करने दो यह संग्राम भरत से,।

उठे राम समझा अनर्थ का दृश्य उपस्थित वन में,
बोले 'यह आश्चर्य समर हो भरत और लक्ष्मण में!

इंगित से फिर कहा अनुज से 'उतरो नीचे आओ,
पहिले लो विचार फिर बिगड़ो अधिक नहीं घबराओ।

तुम से थे तो बड़े उमर में तन से भी तगड़े थे,
भला भरत पहले भी सोचो कभी लड़े झगड़े थे?

फिर जड़ जीव सरीखे संशय भरकर क्यों डरते हो,
अपने सब आरोप अजाने अग्रज पर धरते हो?

उतरे लखन वृक्ष से नीचे कुछ मन में सकुचाए,
बुझी न थी मन की चिनगारी इस से थे चकराए।

'असहन शील केकयी सुत का यह अभिमान अधम है,'
बोले खीचे तीर धनुष पर लक्ष्मण भृकुटि विषम है।

मेरा शर-संधान मांगता आज लक्ष्य अरि-उर का,
करने दो संग्राम शत्रु का सुखद धाम सुरपुर का।'

कहा राम ने 'अनुज तुम्हारा रोष, राज हित में है,
मेरा जो उच्छिष्ट उसी पर दृष्टि आज मित में है।

सुनो अनुज मैंने बचपन में बात बात में यों ही,
पूछा भरत राज-पद के तो अधिकारी हम दो ही ?

'सच में तो सौमित्रि हमारे राजा' कहा भरत ने,
हम सब को प्रकृतिस्थ कर दिया था उनके अभिमत ने।

भरत न रहे राज के लोभी मैं भी वनचारी हूँ,
कर लो तुम्ही राज वह जिसका मैं ही अधिकारी हूँ।'

सुनकर व्यंग रंग रामानुज का हो गया मलिन-था,
जैसे सांध्य गगन के तम से सकुच छू गया दिन था।

लखन का कोप, राम का प्रशान्त हास देख,
तीर औ कमान के समान था उतार पर।

सीता थीं विनीता बैठी समुद शिला के पास,
जैसे जीत का पुनीत चिन्ह कढ़े हार पर।।

जीव के जड़त्व का ही शोध किया आत्मा ने,
क्रोध था समाप्त शांति बोध था निखार पर।

और फिर दोनों की लगी थी आंख माख भरी,
प्रेम रत भरत के ध्वज कोविदार पर।।



बारहवाँ सर्ग

चित्रकूट के शांत शिखर पर राम ध्यान में रत थे,
और आँख की ओट बढ़ रहे विह्वल बन्धु भरत थे।

सहसा प्रलय-काल के रवि से तेजस्वी पर पीले,
देखा रामानुज ने सम्मुख लोचन गीले-गीले।

जिन्हें समझते थे अरि वे तो परम विनीत विनत थे,
लखन गए पहचान आ रहे जो इस ओर भरत थे।

अग्रज का आदेश शीश पर भाव भरत का मन में,
किसकी करें वन्दना पहिले द्विविधा थी लक्ष्मण में।

स्नेह-भार में बने काठ से इधर-उधर तिरते थे,
कभी वेग से बह जाते तो कभी घुमड़ घिरते थे।

सोचा जिनके चरण-कमल पर चढ़ा चुका जीवन हूं,
उसकी ही सुगंधि है सारी जिसका खिला सुमन हूं।

राम गए पहचान लखन के मन के द्वंद द्रवित को,
और उठे यज्ञानल जैसे ले आहुति के घृत को।

लता ओट से दिखा भरत का भाव भरा आनन था,
चार नयन मिल गए और कृत-कृत्य हुआ कानन था।

भरत गिरे भूतल पर रामानुज ने दिया सहारा,
जैसे स्वच्छ शिखर से गिरकर के तिरे धरणि में धारा।

राघव वढ़े भाव विह्वल हो विमल हृदय भर आया,
पैर पकड़ केकयी मात का फिर सिर झुका उठाया।

लखन हुए लज्जित से दुबके खड़े बगल में नत थे,
संशय भय सद्भाव बन गए जो दुर्भाव विगत थे।

राग-द्वेष उठते हैं मन में जो कुछ बिना विचारे,
सोच रहे थे रामानुज निष्फल दिन के से तारे।

अपना मन है साफ अगर तो स्वच्छ सभी के मन हैं,
अपना ही शंकित उर है तो शंकित सगे सुजन हैं।

साथ-साथ ही जनमा, व्याहा और बना वनचारी,
भइया के संतोष सदाशय का न हुआ अधिकारी।'

अग्रज ने अनुताप अनुज का मन ही मन पहचाना,
हीन-भाव के प्राक्षालन के हित कुछ किया बहाना।

और कहा 'भाई लक्ष्मण क्या सोच रहे मनमारे,
भइया भरत दूर से चलकर आए हैं बेचारे।

जाओ जल लाओ पहले यह मलिन हाथ-मुंह धोएं,
फिर हो वार्तालाप सभी मिल ममता मोद संजोएं।'

चले लक्ष्मण एक हाथ में था मंगल घट खाली,
कंदमूल के लिए दूसरे कर में लिए कुदाली।

फुर्ती से पहाड़ से नीचे उछल उतरते जाते,
मन ही मन में राम-भरत के गौरव गुन को गाते।

बंधा भावना की डोरी में कर्म-स्फुरण का बल था,
किसी विकल बिजली को छूकर पिघल गया बादल था।

हीन-भावना पुट में उमड़ा परम प्रेम शीतल था,
अग्रज का आदेश-मुकुट धर कर हर्षित ही-तल था।

इसी तरह कौतुक में कर्मठ के बीते कुछ क्षण थे,
कामद-गिरि से मन्दाकिनि के तट पर खड़े लखन थे।

निर्मल-जल कुसुमावलि-मंडित कल-कल कर बहता था,
बढ़ते रहो निरंतर पथ पर पथिकों से कहता था।

रामानुज ने घड़ा धर दिया, कर में लिया कुदाली,
कंदमूल को खोद मोद से भर कर फल से डाली।

पहुंच नदी के तीर उन्हें फिर मल-मल कर के धोया,
और टोकरी में चुन चुन कर सिरजा और संजोया।

फिर कटि तक पानी में पिल करके उसको हिलकोरा।
और घड़े को खड़े-खड़े ही जल-प्रवाह में बोरा।

घट भर गया उसे कंधे पर धर टोकरी दबाए,
लखन चल पड़े कामद-गिरि की ओर उमंग बढ़ाए।

जैसे चढ़े सूर्य उदयाचल पर भर तेज तिमिर में,
अथवा योगी की समाधि की श्वास समाये सिर में।

वैसे ही रामानुज ले कर तपोपूत आनन को,
कामद-गिरि पर गए चमत्कृत कर कनको कानन को।

आते ही अग्रज राघव के चरण छू लिए मन से,
और भरत भाई का कर के अभिनन्दन लोचन से।

पहले पाद्य-अर्घ्य को देकर के पथ का श्रम मेंटा,
फिर पिछला संताप शोध करके भुज भर कर भेंटा।

कंदमूल फल चुन-चुन उनका सादर भोग लगाया,
जो कुछ बचा अग्रजों से पावन प्रसाद वह पाया।

सीता माता की अनुमति से पर्णकुटी में आए,
आग जला करके, जंगल को फिर मृगया को धाए।

और मार करके पावन-मृग कंधे पर लटकाए,
कामद-गिरि के शांत शिखर पर सूर्य्यकांत चढ़ आए।

मृगया के मृग को पावक के पुट में फिर लटकाया,
धीरे-धीरे सेंक-सेंक कर उसका मांस पकाया।

पाक-शास्त्री ने फिर उसके टुकड़े किये यतन से,
सजा दिये पत्तल में उनको चुन-चुन रम्य-रतन-से।

अग्रज राम चन्द्र को अनुनय करके फिर ले आए,
पके मांस के पिंड बहुत से विधि से गए बनाए।

बलि दे वैश्य-देव को राघव ने पितरों को पूजा,
दोनों लगे मन्त्र पढ़ने स्वर साम गान का गूंजा।

लक्ष्मण बना रहे थे भोजन भ्रातृ-भाव में डूबे,
उधर शत्रुहन अग्रज की सुधि कर अपने से ऊबे।

और उठे चुपचाप भरत की ले आशीष विनत हो,
पहुँचे पर्णकुटी में संयम और साधना रत हो।

देखा अग्रज धूम्रराशि से घिरे हुए बैठे हैं,
जैसे सूर्य देव श्यामल से बादल में पैठे हैं।

भर आया उर और आंख से बही अश्रु की धारा,
और सिसकियों ने चुपके से बारम्बार पुकारा।

मुड़ कर देखा रामानुज ने अपनी आंखें मलते,
अनुज शत्रुहन खड़े हुए चुपचाप ताप से जलते।

'आओ भइया' कहकर सत्वर दौड़े छोड़ रसोई,
जैसे कवि के शून्य हृदय में भाव भर गया कोई।

हाथ पकड़ करके पीढ़े पर अपने पास बिठाया,
माथा चूम, शीश को कोमल हाथों से सहलाया।

रिपु सूदन ने आंख पोंछ कर कहा 'आप अग्रज हैं,
मैं हूँ अनुज आपके उड़ते जिसके उर में ध्वज हैं।

आप उठें मुझ को भी कुछ कुछ पाक शास्त्र आता है,
क्योंकि शत्रुहन पाक शास्त्री का छोटा भ्राता है।'

'आओ जैसे मैं राघव के पद रज का अनुचर हूँ,
तुम भी लगो उसी में, जिसमें अब तक मैं तत्पर हूं।

अपने-अपने आराधक की आराधना करें हम,
दोनों करें रसोई दोनों सेवा-सिन्धु तरे हम।'

पर्ण कुटी में अनुज, और अग्रज थे शान्त शिखर पर,
बन में थी बस गयी अयोध्या अपने आप उजड़ कर।

कहा लखन ने, 'अनुज रिपुदमन मनुज कर्म का फल है,
पौरुष-पादप हरा भरा वह जिसको मिलता जल है।

किन्तु मुझे तो ऐसा लगता युग ही गया बदल है,
कर्म-धर्म से भी बढ़ करके बना भाग्य का बल है।

रामचन्द्र के काम अलौकिक हैं मंगलकारी हैं,
और आचरण से अपने वे लगते अवतारी हैं।

देश-धर्म के लिए बिताया- काँटों में बचपन है,
अपने मन को मार दूसरों का ही रखते मन हैं।

फिर भी कुटिल काल उन पर ही अपनी त्योरी ताने,
जन्मजात अधिकार छीन कर दीन कर दिया मां ने।

सबसे बड़ा बन्धु जो हम में कृपा-सिन्धु सीधा है,
अद्‌भुत यह दुर्भाग्य विशिख ने उसको ही बींधा है।

जिसने अनुजों को अग्रज-सा आदर दिया जगत में,
और न समझा अंतर तिल भर अपने और भरत में।

बिना मुकुट के मस्तक ऊंचा किया सदा अपनों का,
सबको दिया साधना का बल सुख स्वर्गिक सपनों का।

उसके ही किरीट कुंडल को आकर कोई छीने,
उसकी उंगली कटे अंगूठी में जो जड़े नगीने।

जिसके सहज उदार हृदय का है प्रतिबिम्ब दिवाकर,
जिसकी ज्योति समान सभी के पड़ती तिमिर विवर पर।

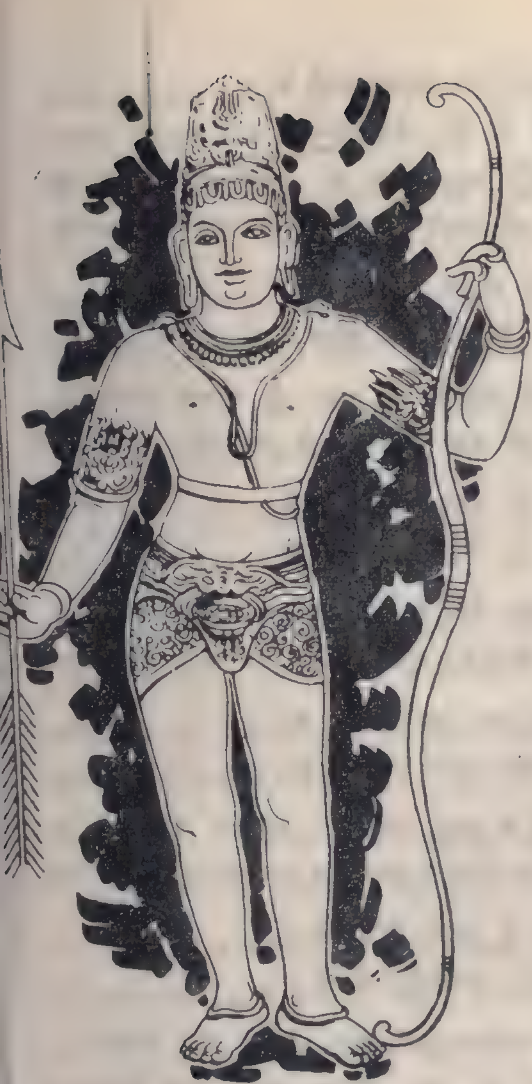
जिसकी ममता का बल लेकर कारुणीक धरती है,
अपने मस्तक पर प्रमुदित हो तरु तृण को धरती है।

जिसका ओज जले पावक बन तेज चमकता तम में,
बुद्धि ब्रह्म की शुद्धि, समायी सिद्धि, शांति, संयम में।

जिसका आनन ही जग-जीवन वह कानन चारी है,
बन्धु शत्रुहन लगता नियमन ही अत्याचारी है।'

राम के अकाम बन्धु लखन ललाम उठे सजल सनेह भरे शत्रुहन को निहार,
बोले रुज अनुज कुपथ्य से न जाता कभी और घुलता न वासना से बुद्धि का विकार।

किन्तु लगता है सत्य भी अशक्त शौर्य-हीन क्षीण बनता है हीन-सा मलीन सदाचार।
अग्रज की आपदा विलोक लगता है बन्धु ध्येय हीन श्रेय और दुर्विजेय दुराचार॥



तेरहवां सर्ग

चित्रकूट के कामद गिरि पर हरित विटप छाए थे,
राम-भरत दोनों नीचे से ऊपर उठ आए थे।

दोनों के आंसू ऐसे, अनवरत प्रवाह बने थे,
जैसे चार प्रपात ढालते, सरल सजल सपने थे।

पितृ-मरण का ताप और संताप अनाथ अवध था,
दोनों थे उद्भ्रान्त कि रोदन गया सांस पर सध था।

उत्तर और तनिक हट कर कुछ एक और लघु गिरि था,
जिसका शिखर तरुण-तपसी के जटा जूट का सिर था।

उस पर लखन-लाल वीरासन पर कमान साधे थे,
उसी तरह शत्रुघ्न पार्श्व में बैठे बल बांधे थे।

चारों ओर रात काली थी, मंदाकिनी मलिन थी,
लक्ष्मण की टेकरी सितारे, रही साध के गिन थी।

कहीं कहीं मृगराज गरज कर शांति भंग करते थे,
मौन वन-श्री की गरिमा पर व्यक्त व्यंग करते थे।

दूर किसी तपसी की धूनी में पावक जगती थी,
अंगारों की प्रभा गहन-वन में मणि-सी लगती थी।

शांति और इस सन्नाटे में रामानुज नीरव थे,
जाग उठे प्रत्यक्ष, वीरता के पिछले अभुभव थे।

मन कचोट लेता था लेकिन, यह उद्वेग हृदय का,
जिसमें मिल कर उफनाया था, अब समुद्र संशय का।

भरत-आगमन के पहले जिसमें था ज्वार प्रलय का,
अग्रज के आगे अभिनय वह अति अभद्र अविनय का।

सोच रहे थे अनुज राम का अतिशय प्रेम हृदय में—
कभी आग सा जल उठता जब धक धक धूम्र वलय में।

तो अपने भी उसी आँच में तपने से लगते हैं,
माता-पिता बंधु के नाते, सपने-से लगते हैं।

आशंका आवेश किसी का, उत्तर स्नेह स्मरण है,
अपने को भी दग्ध बनाता, ऐसा गरल क्षरण है।

मेरा मन उद्विग्न भरत को शत्रु समझ शंकित था,
असमय में अपनी छाया-से लगता आतंकित था।

सरल साधु अग्रज पर छोड़े, मैंने जलते छीटे,
बड़ों बड़ों के नाम धूलि में नाहक गये घसीटे।

पूज्य पिता पर भी आंखों में अंगारे लहके थे,
व्यर्थ आपदा में अधर्म में धनुष बाण बहके थे।

अपने प्रिय का कुशल क्षेम ही मन का मल बनता है,
मंगल बुद्धि अमंगल बनती, जग जंगल बनता है।

आंखों में तनाव होता तो तम-पूरित त्रिभुवन है,
आशंका उन्माद जीव का, सहज धर्म है धन है।

यह है ऐसा पंक कि जिसमें, उगता पंकज वन है,
सहज-शुद्ध उद्‌बुद्ध ब्रह्म-सा अग्रज का आनन है।

जिसके मधुर हास से बनता, जड़-जीवन चेतन है,
वहीं हमारा अनायास आकुल हो जाता मन है।

जल भी रहा, सजल भी है कुछ, जीवन और मरण है,
आग और पानी का पुतला बना हुआ लक्ष्मण है।

मैं हूं ऐसी भूल, बुद्धि के जहां तंतु मिलते हैं,
ऐसी भष्म जहाँ अंगारे तारे से खिलते हैं।

ऐसा यती बहिष्कृत जिसमें फिर विकार छिपते हैं,
ऐसी भष्म कि जिसमें नीचे से स्फुल्लिग दिपते हैं।

अपने आप हंसे फिर पश्चाताप आप पिघला था,
स्वेद खेद का माथे पर चढ़ बनकर बूंद ढला था।

देखा बगल अनुज को जो थे तीर धनुष पर तोले,
वीरासन में ही रामानुज बैठे-बैठे बोले।

'रिपु सूदन यह राम प्रेम भी कितना अधिक प्रबल है,
ऐसी आंच कि जिससे जग की जड़ता जाती गल है।

जैसे विह्वल वारि-वेग में तरु-तृण तनिक तिरीछे—
होकर धारा के अनुयायी, बढ़ते पीछे-पीछे।

उसी तरह आवेश ओज आक्रोश ग्लानि मद मत्सर,
स्नेह-सतह पर तिरते रहते, केवल ऊपर-ऊपर।

भीतर तो रामानुराग का बहता स्नेह-तरल है,
जिसकीं इंगित पर विकार की होती चाल चपल है।

सुकृति-विकृति दोनों ही अपने-अपने पकड़ किनारे,
एक वेग से बहते रहते बेबस हो बेचारे।

डूबा कहीं अगर कोई तो, कोई ऊपर आया,
मोड़ा पीछे कभी लहर ने, आगे कभी बढ़ाया।

प्रेम-प्रवाह अथाह अगम है अपना छोर मिलाए,
रुकता नहीं बीच में कोई बाधा-बंधन आए।

अनुज शत्रुहन राम-प्रेम पर कितनी सही उतारी,
अनगिनती गलतियां धार में धोकर गयीं सुधारी।

जब-तक धधक रही अंतर में राम-राग की आगी,
तब तक रहता है निर्मल हो, रागी भी वैरागी।

मैंने पकड़ी मूल इसीसे छोड़े पत्ते-डाली,
जब चाहूँ तब पतझड़ ले लूं जब चाहूं हरियाली।

सुख-दुख दोनों दो करतल हैं, अंजलि एक रही है,
जिसमें श्रद्धा-सुमन, सामने स्नेह नदी उमही है।

बोध क्रोध दोनों रघुवर के मेरा अपना क्या है?
अब तो उनकी अलग अलग परिभाषा भी मिथ्या है।

तो फिर पश्चाताप-रेत में क्यों कर शीश छुपाऊं,
शुतुर-मुर्ग-सा मरु-मरीचिका में मुंद कर रह जाऊं?

खुला हुआ मुख बोल रहा है, खुले प्रेम की भाषा,
करले कोई अपने मन की जो चाहे परिभाषा।

सब कुछ खुला अंधेरा उर का था निष्कपट उजाला,
पहरेदार न अपने ऊपर मैंने कभी बिठाला।'

राम के अनुज ने अनुज अपना विलोक, विना रोक-टोक के उघार अपना हिया
राम-प्रेम-तत्व में निजत्व को डुबा के अनुराग का बचा जो शेष-भाग अपना लिया
और फिर बोले 'एकनिष्ठ ही रहा हूँ सदा शिष्य हूँ वशिष्ट का तो इष्ट राम औ सिया
भाई हैं भरत तुम लघु बन्धु सत्य किन्तु एक लौ लिये ही जला मेरी दृष्टि का दिया।



चौंदहवां सर्ग

भरत गये, ले गये साथ में सकल राजसी सेना,
जैसे पावस चले, शिशिर के सुख के लिए रहेना।

चित्रकूट के सहज शिखर का शिल्प शिथिल साधन था,
मन्दाकिनि हो गयी मलिन मन विरह-विलोड़ित वन था।

रामचन्द्र का मर्यादित मन फिर निरलस निर्मल था,
जैसे सूरज के मंडल को घेर घुला बादल था।

मगर लक्ष्मण का अदम्य पौरुष प्रसिद्ध लज्जित था,
ओज-तेज अब उनके अपने मन में अभिव्यंजित था।

जैसे लपट बुझ गयी केवल दिगता अंगारा हो,
सागर उर में आग जला करके जैसे हारा हो।

अभी भरत आगमन अनल-सा असहन-शील बना था,
मन का कैसा भेद दृष्टि-भ्रम कमल करील बना था।

राघव का अक्षय आतुर अनुराग बना संशय था,
जला आग में इतना लगता पानी से भी भय था।

पछताते थे रामानुज यह प्रेम बड़ा छलिया है,
अमृत कभी, कभी अधरों से विष को छुआ दिया है।

पल में बनता पावक है यह तो पल में पानी है,
एक चित्र के दो पट, धूसर एक अपर धानी है।

पछताते थे लखन राम का सरल शान्त आनन था,
शंकित मुनि समूह था सारा आतंकित कानन था।

सब थे हुए दुचित्त लखन को छोड़ सभी विचलित थे,
वर्तमान बोझिल था कल के बोल काल कवलित थे।

अमित गहनतम, ज्योतित केवल रामचन्द्र का मुख था,
आशंकाओं का पतंग कुल उसी ओर उन्मुख था।

टेढ़ी भौंह चपल चितवनि से विस्मय विस्तारित था,
संकेतों पर आशंका का उपक्रम आधारित था।

समझ गये रघुवीर, भयातुर मुझसे ही जलते हैं,
क्योंकि उठे सिर अन्धकार में और अधिक खलते हैं।

अपनी छाया ही बन जाती भूत जहां पर भय है,
हर अलाप अपशकुन सरीखी जहां टूटती लय है।

परिवारिक परिताप देखकर आश्रित भी उखड़े हैं,
चित्रकूट चुभ रहा लग रहे कंटक शृंग खड़े हैं।

रामचन्द्र ने कहा लक्ष्मण कैसी यह छलना है,
तजकर के यह ओर गहन कानन में अब चलना है!'

सजग हो गये रामानुज भुजदंड चन्ड चमके थे,
और अंधेरे में माथे के बल चमके-दम के थे।

चित्रकूट का प्रिय प्रवास बन गया अधिक सुखप्रद था,
रामचन्द्र का फैला वन में चारों ओर विरद था।

पर एकांत तपश्चर्या की गरिमा क्षीण हुई थी,
लोक-मान्यता की मंदाकिनि प्रकट मलीन हुई थी।

सीता का भी मन उचाट था, वन बन गया अवध था,
भीड़ भाड़ में अधिक, राम का काम न सकता सध था।

लखन लाल का धनुप चढ़ा-का-चढ़ा बन गया जड़ था,
तरकस में लस गये तीर थे, बरछा गया बिगड़ था।

वीरासन भी वद्ध मूल बरगद सा गया जकड़ था,
औ आजानु भुजा का बल बन, निश्चय गया अकड़ था।

एक जगह पर प्रकृति पुरुष को रूढ़ बना देती है,
मोह ग्रस्त मादकता मन को मूढ़ बना देती है।

एक जगह पर जमने वाले पर्वत प्रगति न करते,
सूरज चांद सितारे चलते हैं इस लिये निखरते।

रामचन्द्र यह सोच रहे थे, मन को मिला सहारा,
मुनि-समूह भी परिवर्तन के काल चक्र से हारा।

आशंका बन गयी स्नेह की श्रद्धामयी मुनिष्ठा,
सिमट गयी पंकिल जल-तल सी सीमित प्रकृत प्रतिष्ठा।

कहने लगे 'तपोवन में कैसा पाखंड परुष है,
दंड-कमंडल, पर कब शोभित होता तीर-धनुष है?

इसे देखकर के हिंसा से रत हो सकता मन है,
मुनिमंडली भयातुर बोली 'भ्रष्ट हो गया वन है।

हिंसा से प्रतिहिंसा को भी संबल मिल सकता है,
आज नहीं तो प्रति-द्वन्दी भी आ कल मिल सकता हैं।

इससे अच्छा यही आप तज दें इस कामद गिरि को,
कोई नहीं काटने आता ध्यान मग्न नत सिर को।'

समझ गये राघव सब मन की, मुनि जन की अभिलाषा,
कायर भी करते हैं पौरुष की अपनी परिभाषा।

बोले 'तत्-क्षण हमें लक्ष्मण चित्रकूट तजना है,
नये सिरे से वीर-वेश में तापस-तन सजना है।

लखन लाल सुन अग्रज का आदेश उछल कर बोले,
'भइया हम पहले से अपने मन का बंधन खोले।

यह वन नहीं बरन् उपवन है यहां न मन लगता है,
हम क्षत्रिय मृगया न मिले तो शौर्य नहीं जगता है।

गहन-गभीर सिन्धु के जल-चर तकते नहीं तलइया,
पुष्प-वाटिका में छलांग भर सकते सिंह न भइया!

केकैयी ने मुकुट कंटकों का जब पहनाया है,
तब फिर व्यर्थ सुमन-सज्जा पर मन यह ललचाया है।

जिनके लिये यहां आए थे चित्रकूट में बसने,
वही लगे जब आशंका की श्याम-पटी पर कसने।

तब तो उचित यही हम अपना समय न यहाँ बितायें,
और गहन वन में जाकर के कुटिया कहीं बनायें।

सबसे पहले उठे लखन फिर उठे राम सीता भी,
एक ओर मन भरा विपिन से एक ओर रीता भी।

आगे राम बीच में सीता थी पीछे लक्ष्मण थे,
ब्रह्म और माया फिर जीवाचार्य चरित-चेतन थे।

चित्रकूट कामद गिरि मंदाकिनि तट छूट रहा था,
ले प्रचंड कोदंड काल पल छिन को लूट रहा था।

होता गया सघन से आगे और सघन तर कानन,
प्रमुदित होने लगा कंटकाभ्यासी लक्ष्मण का मन।

चलते चलते पहुँच गये तरु लता तिमिर-तल घन में,
राम लखन जानकी आ गये दारुण दंडकवन में।

सहसा पत्ते हिले वायु भी बड़े जोर से डोली,
और सुनायी पड़ी दूर कुछ विकट बनैली बोली।

सहमी सिया राम ने अपनी आगे दृष्टि गड़ाई,
उनसे पहले सजग हुआ था उनका छोटा भाई।

चढ़ी कमान म्यान से बाहर निकली तेज प्रखर थी,
तपसी की अंगार लपट सी निखरी नयी उमर थी।

और सामने हाँफ रहा था हमलावर वनचारी,
व्याध विराध मुंड माला-धर शंकित सफल शिकारी।

संभले राम शरासन पर कर शिथिल कमान चढ़ी थी,
दो उंगली की पकड़ तुरत तरकस की ओर बढ़ी थी।

आंखों के अंगार लपट ले, और उभर आए थे,
माथे पर बल पड़ा आप ही पुट्ठे भर आए थे।

मुड़कर देखा जहाँ जानकी थी अब वहां नहीं है,
लगा कि जैसे अतल रसा तल में घुस गयी मही है।

वैदेही वंदिनी बने, बंचक विराध के बस मैं,
राम विकल थे, अनुशासन प्रिय लक्ष्मण असमजंस में।

जैसे सोते हुए सिंह कीं मूँछ पकड़ ले कोई,
विश्व-विजेता के आंगन में और अकड़ ले कोई।

वैसे ग्लानि ग्रस्त उर पट था भीगा गांठ पड़ी थी,
आंखों में आंसू बन कर के असफलता उमड़ी थी।

बोले धनुष बाण धरती पर 'धर यह जटिल समस्या–
अनुज पी गयी आज, पिशाचिनि बनकर तरल तपस्या।

बालू बन वीरता बिखर कर तलवे चाट रही है,
धीरज की कगार को संशय सरिता काट रही है।

अवध तजा सिंहासन का अधिकार व्यंग बन बैठा,
कालायश का सर्प दर्प के भग्न विवर में पैठा।

सीता को राक्षस के हाथों सौंपा कायरता ने,
नग्न हुआ देवत्व दबाया तृण मुख में नरता ने।

अनुज न भुज बल रहा शेष जो इस संकट को मेटे,
अथवा विजयोन्माद वरण कर भाई भुज भर भेंटे।

तुम फिर अवध पुरी में जाकर अपना नेह लगाओ,
माता पत्नी और अनुज से मिलकर गेह बसाओ।

मैं वनबासी भ्रष्ट तपस्वी आत्म घात कर लूंगा,
सांध्य पटल के बीच अस्त हो सुबह न फिर निकलूंगा।'

दीन वचन सुनकर अग्रज के कुछ छा गयी उदासी,
चमके औ चैतन्य हो गये फिर उर्मिला-विलासी।

जटाजूट को बांधा डोरी खींची धनुष चढ़ा था,
संयम का संधान समय पर बलि की ओर बढ़ा था।

अरुण-नयन-पुट भृकुटि भष्म में लहके बहके बहके,
जलने लगे सरोष शिखा-सी गहके दहके दहके।

ओज तेज मन ही मन दीपित आंखों में लाली थी,
पौरुष का प्रताप प्रकटित, हर मुद्रा बलशाली थी।

धनुप चढ़ाका चढ़ा डोर पर कोर तीर की तोले—
रामानुज आवेश बांधकर अनुशासित हो बोले।

'भइया सम्मुख समर गरजता हम आंसू में डूबें,
कायरता यह है अवसर पर अपने से भी ऊबें?

सहकर के आघात हृदय पर, आत्म घात पातक है,
तीर लगे ज्यों रुदन वीर का घृणित और घातक है।

पहले चलें व्याध के सिर पर चढ़ा हुआ ऋण भर दें,
सीता माता को कर बंदी—मुक्त सुरक्षित कर दें।

फिर उपदेश सुनें, आंसू के गिरने का क्रम देखें,
बहुत समय है सांस साधने का अब भी श्रम देखें।'

इतना कहकर के पीछे से निकल सुमित्रानंदन,
आगे आकर के अग्रज का कर उर से अभिनंदन।

छोड़ा बाण उधर वनचर का खर स्वर सुन पड़ता था,
और जिधर वन खंड आंख की लाली से लड़ता था।

सुनकर के ललकार लखन की, लौट विराध पड़ा था,
आंखों के आगे पहाड़ सा हंसता हुआ खड़ा था।

फिर कुछ झुका और हाथों से दोनों रघुवीरों को,
कंधे पर आरोपित करके बचा गया तीरों को।

दाएं कंधे पर राघव थे, बाएं पर लक्ष्मण थे,
लगता था कज्जल गिरि पर चमके दो ज्योति-कंण थे।

रामानुज ने अग्रज को संकेत दिया अवसर है,
हाथों में है खड्ग बीच में अड़ा शत्रु का सर है।

लेकिन पहले हम इसकी बाहों पर घात करेंगे,
रह-रहकर आगे पीछे हम अस्त्र निपात करेंगे।

और लक्ष्मण ने तत्क्षण ही अपनी तेग चला दी,
बायीं भुजा काट वैरी की, कुत्सा और जला दी।

राघव ने फिर दायें कर पर भी तलवार चलायी,
अपने आप भूमि पर आए सकुशल दोनों भाई।

बाहु विहीन विराध बाढ़ सी अपनी दाढ़ पसारे,
गरजा बड़े जोर से पीले पत्र झड़पड़े सारे।

फिर दोनों रघुवंशी वीरों ने यों तीर चलाए,
बैरी बेबस खड़ा रह गया बस अपना मुंह बाए।

समझ गये संकेत बंधु का लक्ष्मण उठा कुदाली—
लगे खोदने कबर व्याध की लंबी गहरी नाली।

पीछे से फिर लात घात करके आगे को ठेला,
अंग-भंग करके विराध को पटका और ढकेला।

फिर लक्ष्मण ने वास्तु कला का अपना करतब ढाला,
गड्ढा पाट विराध व्याध का क्रिया कर्म कर डाला।

हाथ झाड़ करके मुस्काए फिर राघव को देखा,
अंकित किया युक्ति पर अपनी फिर अग्रज का लेखा।

आगे बढ़े राम आतुर हो अपने हाथ पसारे,
भुज भर भेंट अनुज को, मेटे मन के संशय सारे।

सीता की कर खोज बढ़े आगे फिर दंडकवन में,
रामानुज पीछे थे आगे की छवि थी लोचन में।
बोले 'बाट करती विराट की कठोरता में –
कभी काट के पहाड़ को भी सरिता की धार।

और व्योम चीरते से देख पड़ते हैं कभी–
पंथ के प्रवीण क्षीण हीन विद्युती प्रहार।
देख के दिनांत शीत शांत उर्मिला के कांत–
कहने लगे कि 'सोहता है सूर्य का उतार'–
और फिर अपनी उपार्जिता विजय विभूति–
कर दी विलीन, राम चन्द्र का किया प्रचार।



पंद्रहवाँ सर्ग

राम जानकी और लक्ष्मण बढ़े गहन कानन में ,
जैसे सूरज चांद और धरती हों संग भुवन में।

एक प्रखर तप के आतप से ज्योतित था, जाग्रत था ,
उदय-अस्त के बीच विभासित जिसका जीवन व्रत था।

अपने आप असीम सहज ही सीमा हीन बना था ,
पुरुष पुरातन ही जन-हित में निखर नवीन बना था।

और जनक-जाया माया-सी चारु-चांदनी डाले ,
चमक रही थीं चन्दा बन करके कलंक को पाले।

इन दोनों की आभा से आभासित जिसका तन था,
रामायण का वह कर्त्तव्य परायण ही लक्ष्मण था।

लगता था आ गया धरा पर आसमान भी कटकर,
चला जा रहा हो सारा भूगोल खगोल सिमट कर।

नदियां नाले लहर-लहर कर चरण कमल धोते थे,
खग मृग पशु वन चर अनुचर से सहज सिद्ध होते थे।

प्रकृति पराक्रम की अनुमति पाकर अनुकूल बनी थी—
पर्वत की कठोरता पिस पैरों की धूल बनी थी।

संग लगे सरभंग लोक आलोक सुतीक्ष्ण लिये थे,
और अपर मुनि ममता की मादक माधुरी पिये थे।

धीरे धीरे पथ की परिखा सिमट ससीम हुई थी,
सीमित सी मन की अभिलाषा उमड़ असीम हुई थी।

पवन सुगंधित था सुमनों से, पाहन भी पानी था,
विगलित-सी वन-वृत्ति विमल थी, बट भी वरदानी था।

यज्ञ कुंड से उठे धुएं से धूमिल नीला नभ था,
कन, कन कनकॉपतित पावन था जन-जन ज्योतिर्प्रभ था।

व्यस्त-वार्ता में अगस्त्य-मुनि के आश्रम की दूरी—
यों कट गयी कि जैसे मुकुलित पलक लग गयी पूरी।

दूर एक समतल पर्वत पर पर्ण-कुटी छायी थी,
जैसे उतर अप्सरा कोई तप करने आयी थी।

सीताराम विराम विमज्जित मुद्रा में मुद्रित थे,
नेह-निशा के नयन मिलन की मधु निधि ले निद्रित थे।

पीपल की छाया के नीचे शीतल एक जगह पर,
राघव बैठ 'गये सुस्ता लें पलभर' ऐसा कहकर।

किन्तु सुमित्रानंदन का तो अब कर्तव्य जगा था,
सेवा भाव सुलभ अवसर पर और अधिक उमगा था।

धनुष-बाण धर कर धीरे से कहां चल दिये चुपके,
जाने कौन युक्ति जाग्रत हो उठी छांह में छिपके ?

पल भर में वे पर्ण कुटी की छाया में बांधे थे,
सबने समझा यती लक्ष्मण सही युक्ति साधे थे।

रामचन्द्र की जय-ध्वनि सुन करके अगस्त्य उठ धाए,
और कुटी का द्वार खोलकर उत्सुक बाहर आए।

मुनि के चरण स्पर्श कर रामानुज ने कहा विनत हो,
आते हैं अग्रज पादोदक लेने को उद्यत हो।

रामचन्द्र, जड़ कायरता के चेतन सिंह-सुवन से,
जनक-सुता के साथ नापते त्रिभुवन चरण-चरण से।

अभिलाषा अगस्त्य की अपनी इष्ट पूर्ति में लय थी,
राम मिले तो लगा मिल गयी वन में विश्व-विजय थी।

तब तक राम-जानकी मुनि के सम्मुख पड़े दिखायी,
आगे बढ़े अगस्त्य अतिथि ने अपनी दृष्टि मिलायी।

और राम-सीता के मस्तक कुलपति के पद पर थे,
शक्ति-साधना का सगम था, नारायण नद पर थे।

कंद मूल फल भेंट कहा मुनि ने 'जब शास्त्र विफल हो,
तब तुम-सा शास्त्रज्ञ शस्त्र-धर आता पूर्ण सबल हो।

विंध्य शिखर से बाधित दक्षिण देश बहुत दुर्गम है,
भौतिक सुख में सीझ बना विग्रह, प्रशांत संयम है।

लंका में कुछ साक्षर के उलटे अक्षर राक्षस हैं,
बढ़ती हुई वासना के बंदी हैं जो बेबस हैं।

सब संपन्न और शिक्षाविद् किन्तु अहंकारी हैं,
गृद्ध-दृष्टि है वैज्ञानिक हैं शव शोधनकारी हैं।

छल बल ही आचार और आदर्श असत्य वचन हैं,
पौरुष, परुष प्रलाप शूरताई सीमोल्लंघन है।

जीवन की अथ इति आरोपित मांस और मदिरा तक,
अति अपुनीत आचरण सीमित केवल ज्ञान गिरा तक।

स्वर्ण राशियों पर गिरता है चौंक चमक चेतन मन,
स्वार्थ परम परमार्थ तोड़ता हर प्रण को आकर्षण।

विद्युत बस में हैं जल की लहरों को भी बांधा है,
बाहों में है व्योम पवन को सांसों से साधा है।

वैज्ञानिक युग की जड़ता का दोहन करने वाले,
मारण-उच्चारण शोषण सम्मोहन करने वाले।

ऊपर-ऊपर से जीवन की गति को गहने वाले,
अपना मोम-महल औरों के घर को दहने वाले।'

कहा महामुनि ने 'राघव उत्तर में यमुना-गंगा,
सूख रही हैं, और हो गया है विन्ध्याचल नंगा।

यह पत्थर की अनुलंघ्य दीवार पार करना है,
जो पथ-भ्रष्ट हो गये उनका तो सुधार करना है।

शास्त्र-साधना के अभ्यासी हम मुनि-वृन्द सरल से,
अमृत-वचनों को लेकर लड़ सकते नहीं गरल से।

इसीलिये अब शस्त्र एक अवलंब आर्य-मत का है,
योद्धा का यश गान और युग-धर्म युद्ध-रत का है।'

रामचन्द्र थे मौन मगर विधि का विधान सक्रिय था,
पर अगस्त्य का ओजपूर्ण प्रवचन लक्ष्मण को प्रिय था।

रामानुज को लगा कि सक्षम शास्त्र शस्त्र से कम है,
धनुष-बाण के बल पर चलता जग का न्याय-नियम है।

जिसकी जितनी चौड़ी छाती उतना बड़ा हृदय है,
जितनी कड़ी मार है उसकी उतनी बड़ी विजय है।

गंगा की इच्छा है उसमें गोदावरी समाए,
और विन्ध्य की अभिलाषा है निकट हिमालय आए।

सागर की लहरें हिमगिरि से हिम-कर तक जाती हैं,
ऊपर की नदियां मिलनातुर नाचे को आती हैं।

जड़ जंगम संगम को आतुर केवल स्वार्थ अलग है,
जिसके लिये समर करना ही मात्र मुक्ति का मग है।

देश-द्रोहियों की संख्या अगण्य है देश बड़ा है,
उनके बध से मनुज सृष्टि में अंतर नहीं पड़ा है।

कुछ कांटे विस्तीर्ण सुपथ के बाधक बन जाते हैं,
दंडनीय उद्दंड स्वार्थ के साधक बन जाते हैं।

इससे उनका उन्मूलन ही जन-मंगल कारी है,
आततायियों का बैरी ही बनता बध-कारी है।

लक्ष्मण शुद्ध युद्ध-दर्शन का सहज भाष्य करते थे,
और राम मन में भविष्य के भाव मौन भरते थे।

मुनि का मन था मगन राम का तन दीपित था द्युति से,
उठे अगस्त्य जिस तरह उठती शिखा स्वयं आहुति से।

और राम का हाथ पकड़ कर बीहड़ वन में आए,
लक्ष्मण भी लग गये साथ में अपना धनुष चढ़ाए।

यह क्या ? अत्याचार यहां पर गया परिधि से बढ़ है,
अस्थि-पुंज का पर्वत है या कंकालों का गढ़ है ?'

प्रश्न पूछते गये राम दो-चार साथ संभ्रम से,
और अगस्त्य दे रहे थे उनका उत्तर क्रम क्रम से।

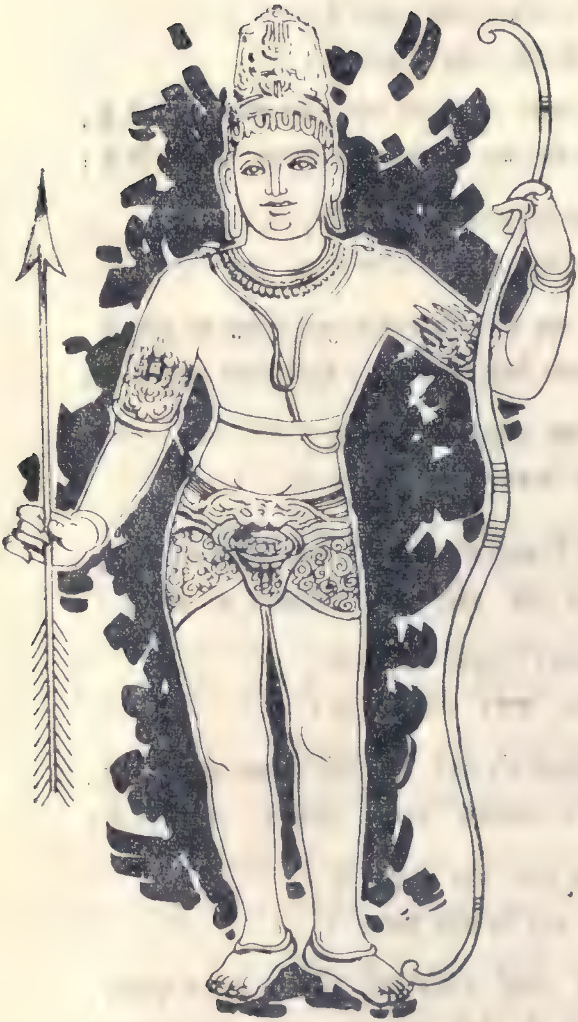
'जिन मुनियों को मार खा गये राक्षस बधकारी हैं,
यह उनके अवशेष देखते जिनको असुरारी हैं।

अब तक रहा कथ्य बनकर वह तथ्य यहां सम्मुख है,
मुनि ने कहा हवा का कैसा यहां विरोधी रुख है ?'

आंखें हुईं लाल राघव की फड़की भुजग-भुजाएँ,
और गरम हो गयीं अचानक सारी रक्त-शिराएं।
बोले 'मुनिवर आततायियों का बध होगा प्रण है,
रण ही मेरी कठिन साधना का आखिरी चरण है।'

पैर पटक कर कहा राम ने बल से पूरे मन से,
मुनि से अधिक प्रसन्न सुमित्रा-सुत थे आप्त-वचन से।

सूखे हुए काठ में लुकाठ हो लगा कि जैसे भीगे हुए पट को पकड़ जलती है आग,
या कि देख युद्ध को उबल उठता है रक्त जैसे यातना में और जाग पड़ता है त्याग।
सोचने लगे कि जहां संत हैं ज्वलंत और सर्प सी विषैली फूंक मारते हैं भूमिनाग,
ऐसी वन-भूमि रण-भूमि बनती है और, सिंह-सी छलांग वहां मारता है छुद्र छाग।



सोलहवाँ सर्ग

मुनिवर की इंगित पर आगे वन में बढ़े बटोही,
पथ पर चिह्न बहुत पड़ते थे पर बनते थे दो ही।

आगे राम नग्न पद-रज पर भग्न भाग्य रचते थे,
जनक लली के पद तल पति के चिह्नों से बचते थे।

पर दोनों की पदरज तजकर चलते अनुज लखन थे,
जिनके पैरों की गति पढ़ते केवल पीड़ित जन थे।

इस प्रकार जा रहा विजन वन में सदेह सर्जन था,
जिसके पीछे कर्म केसरी का गुंजित गर्जन था।

मग में खग मृग पशु तरु तृण सब बाट बना देते थे,
बाधक भी पथ साधक को सम्राट बना देते थे।

अणुकण चपल चरण तल छू अम्बर तक उड़ जाते थे,
और चमकते चांद सितारों में जो जुड़ जाते थे।

गहरी, गुम्फित वन-श्री में गोदावरी बही थी,
प्रकृति प्रसन्न प्रफुल्लित सुषमा उपमा सी उमही थी।

बीहड़वन झींगुर के रव पर कोई ताल न देता,
वन कुंजों में अटकी भटकी दृष्टि उछाल न देता।

कभी कभी केसरी गरज कर शान्ति भंग करता था,
अलसाये से वन के यौवन में उमंग भरता था।

तब तब रामानुज के भुज भी फड़क उठा करते थे,
जोड़ हड्डियों के रह रह कर कड़क उठा करते थे।

धीरे धीरे भूमि तनिक सी चौरस पड़ी दिखायी,
राम रुक गए रामानुज ने ली भुज भर अंगड़ायी।

निर्देशन कर्त्तव्य साथ ही साथ हिले डोले थे,
इच्छा और क्रिया ने मिल कर वांछित फल तोले थे।

रामचन्द्र ने धनुष धर दिया भूपर ऊपर देखा,
जैसे शून्य श्याम से नभ में खिची ज्योति की रेखा।

और गले में बांह डालकर के लक्ष्मण से बोले,
"अनुज कौन सी जगह जहां वन राजि मुक्ति बन डोले?

और जहां अपनी कुटिया को कुश कांटों से छाएं,
कुछ दिन रहें, वन्य जीवन से मन अपना बहलाएँ?'

अपनी दृष्टि तनिक नीची करके उर्मिला–विलासी,
बोले 'मैं हूँ दास आपकी आज्ञा का अभिलाषी।

जहां कहीं पर कहें स्वर्ण-सी पर्ण कुटी को छा दूं,
नाले, नदी शिखर तरुवर पर कहिए जहां बना दूं?"

बोले राम, 'विराम वहीं है जहां सुमन है जल है,
समिधा है सुविधा है जंगल में होता मंगल है।

यह विस्तीर्ण विंध्य की दिखती जो सामने पटी है,
जहां पांच बट वृक्ष लगे हैं लगता पंचबटी है।

यहीं कहीं सरिता के तट पर अपनी कुटी बनाओ,
और सभी वृक्षों के पतों को ऊपर से छाओ।"

लक्ष्मण ने आदेश सुना फिर अपनी युक्ति बिठाली,
और चल पड़े धनुष हीन कंधे पर डाल कुदाली।

हरे बांस के छाजन तोड़े जोड़े कुश कांटे भी,
अपने श्रम के स्वयं चखे फल औरों को बांटे भी।

पल भर में ही पंचवटी की रचना धन्य बनी थी,
पर्वत और कुंज हंसते थे वसुधा वन्य बनी थी।

रामचन्द्र ने पहले देखी कुटी और मुस्काए,
धीरे-धीरे तनिक दूर कुछ आगे को बढ़ आए।

और लक्षमण को अपनी छाती में भरकर भेंटा,
स्नेह-सलिल से सींच साधना का सूखा श्रम मेटा।

बोले, "माता की ममता सम्भार पिता का दुर्लभ,
लक्ष्मण का धर रूप तिमिर को चीर हुआ ज्योतिर्प्रभ।

वन ही बन जाता बध का क्रम भ्रम सी तरल तपस्या,
और साधना स्वयं सिद्ध की बनती जटिल समस्या।

अगर साथ में ओज लक्षमण का न सतेज दहकता,
जाने कहां अंधेरे वन में मन हर ओर बहकता?

हर कांटा कुठार बन जाता हर तिनका तप हरता,
औ, पथ भ्रष्ट पराक्रम कोरा आंख मूंद जप करता।

सीता की सरसता और वन कुंजों की हरियाली–
खलती और, वीरता ने यदि जगह न होती पाली।

अमृत यश के कुम्भ हमारे विष घट मिले अनुज को,
दाम अंग को आभूषण हैं विपदा बाएं भुज को।

मैं समर्थ हूं फिर भी मुझको कृपा बन्धु की प्रिय है,
यह संसार सदा छोटों की सेवा से सक्रिय है।

परामर्श में पिता और आदर्श नीति में नेता,
संकट में सहव्रती, सहोदर और समर में जेता।

जब तक संग, अंग अपना उर्मिला कान्त लक्ष्मण है,
तब तक विलसित विपिन् अयोध्या बिसरा पिता मरण है।'

रामचन्द्र ने कहा 'प्रियम्बद चलो थकान मिटाएं,
विन्ध्य-शृंग से वन्दित पावन गोदावरी थहाएं।'

राम चले आगे पीछे जिनके जानकी लगी थीं,
गोदावरी नाम सुनकर के और अधिक उमगी थीं।

सबसे पीछे रामानुज के सिर पर धरा घड़ा था,
कन्धे पर था धनुष पीठ पर तरकस कठिन पड़ा था।

एक हाथ में भइया भाभी के वल्कल के पट थे,
और दूसरे में पूजा के अक्षत फूल प्रकट थे।

नित्यकर्म कर पूर्ण राम फिर पंचवटी में आये,
और अनुज भी अनुगामी थे सिर पर घड़ा उठाये।

सब प्रसन्न थे हास्य-व्यंग्य की बूंदे टपक रही थीं,
अनुरंजित आमोद निशा में आंखें झपक रही थीं।

सहसा पत्ते हिले पवन सन् सन् कर सिहरा डोला,
सबने अपने संयम को धीरज के धन से तोला।

सहसा सम्मुख सूर्पणखा-सी उतरी तमीचरी थी,
रामरूप की लोलुप पाकर नव यौवन, निखरी थी।

कड़े स्वरों में पूछा तरुणी सेवित यह तप कैसा,
जब तक है जबान में लज्जत निपट नाम जप कैसा?

किसकी अनुमति से पाखण्डी मुनि बनकर आये हो,
और साथ में कौन यौवना रूपवती लाये हो?

कहो कौन तुम बली बिरानी सीमा में बढ़ आये,
और विन्ध्य की दीवारों को दुर्ग समझ चढ़ आये?'

'मैं हूं राम, जानकी मेरी पत्नी लखन अनुज है,
हम सब तो पराग हैं असली अवध एक अम्बुज है।

आज्ञा मान पिता की मन से वनबासी बन आये,
मगर दुर्जनों के दलने को रहते तीर चढ़ाये।'

गूढ़ और गंभीर राम की गिरा ग्रंथि जब छूटी,
सूर्पणखा आ गयी होश में भ्रम सी तन्द्रा टूटी।

फिर फेंकी अपनी अवलोकनि, लोलुप रघुनन्दन पर,
जैसे चढ़े ताल की कायी घिसे मलय चन्दन पर।

मुस्कायी बिजली सी कौंधी और आप में लय हो,
बोली मधुर वचन मायाविनि 'मुनि कुमार की जय हो।

हम तुम दोनों ही अविवाहित स्वस्थ और सुन्दर हैं,
अनुपम है यह जोड़ जगत में अंकित ये अक्षर हैं।

जी चाहता जिसे, ज्योतिष भी उसी डाल का फल है।
मन मानता जिसे मोहन है, वहीं मोद-मंगल है।

काली और प्रौढ़ वय वाली अकुशल अविनीता-सी,
अलग करो अपरूप और यह अर्धांगिनि सीता-सी।'

रामचन्द्र ने पहले कृत्रिम माथे पर बल डाला,
बोले 'मैं ही यहां व्याहता अनुज अभी सहबाला।

जाओ तुम सामने लक्ष्मण उचित उपाय करेंगे,
वे क्वारे लघु-बन्धु हमारे तुमको वही बरेंगे।'

सूर्पणखा सौमित्रि जहां थे गयी वहीं कुण्ठित हो,
यथा वेगहत हो जाती है उल्का भूलुण्ठित हो।

कन्धे पर ज्यों गया हाथ रामानुज उठे सिहर थे,
तनिक त्योरियां चढ़ीं और कुछ पुट्ठे गए उभर थे।

बोले 'री निर्लज्ज यहां सेवक को कहां सुभीता,
व्याह करे ? साधना चाहती जीवन रस से रीता।

हम साधक, साध्वी साथ ले सिद्ध न हो सकते हैं,
मुक्ता-मन में चुभे न कुछ तो विद्ध न हो सकते हैं।

पहले से ही चीर हृदय हम करके रिक्त चले हैं,
अनलपथी ज्वाला की लपटों पर नाचे मचले हैं।

निशाचरी निर्लज्ज, पिशाचिनि, तुझको कौन वरेगा,
अपने आप कौन अपना सिर नीचे काट धरेगा ?'

सुनकर के कठोर लक्ष्मण के वचन कामहत होकर,
सूर्पणखा विकराल बन गयी सारी सुधि-बुधि खोकर।

झपटी जनक सुता पर रामानुज ने जिन्हें बचाया,
बाल पकड़ कर सूर्पणखा को चारों ओर घुमाया।

फिर नासिका-विहीन खड्ग से किया कान भी काटे,
राम बन्धु ने विषय-बेलि में कांटे जो थे छाटे।

जीवनयुक्त ब्रह्मचारी बलवान यती योगी जो,
अनुगामी सेवा व्रतधारी कर्मठ उद्योगी जो।

उसे कहां अवकाश मुक्त आकाश रात भर ताके,
गिने सितारों को अथवा मोती मोहक ममता के !

अंगारों पर पांव धरे हिमराशि नयन में पाले,
कांटों का धर मुकुट शीश पर कैसे सुमन सजाले ?

ओछी किन्तु नासिका कर्त्तन की भी कथा अमर की,
सूर्पणखा ने लिखी भूमिका रावण-राम समर की।

रामानुज के हाथ उड़ी ऐसी प्रचण्ड चिनगारी,
जिसने लंका जला कर दिया क्षीर सिन्धु भी खारी।

खून खड्ग का धोकर लक्ष्मण निकट राम के आये,
एक दूसरे को देखा फिर दोनों ही मुस्काये।

कहा लक्ष्मण ने 'अबला के नाक कान काटे हैं,
पश्चाताप प्रताड़ित मन में उठते सन्नाटे हैं।'

बोले रघुकुल रवि 'रजनी भी रोचक है अबला है,
लेकिन उसका बध कर सूरज प्रति प्रातः निकला है।

जिससे नयन ज्योति बुझ जाए और न मग दिखलाये,
देश जाति से रूठ विपंची अपनी अलग बजाये।

राष्ट्र-द्रोहिता से बनते जिसके सुवर्ण आभूषण,
जिसके मुस्कानों में बंधकर बिके जातिगत दूषण।

ऐसी अबला नहीं बला है, उचित शिरच्छेदन है,
प्रतिद्वन्दी के लिए प्रताड़न परिचित प्रतिवेदन है।

मैंने स्वयं ताड़का की जीवन डोरी खींची है,
अपनी बाल सुलभ चंचलता लोहू से सींची है।

महिला ही आ जाय मौत बन तो मारना उचित है,
अनुज, मनुज में जहां शील है शक्ति वही संचित है।

छोटा करो न मन लक्ष्मण, नासिका-श्रवण कर्त्तन से,
कभी काम लेना ही पड़ता है ताण्डव-नर्त्तन से।'

प्रमुदित थे प्रसन्न रामानुज प्रेरक प्रोत्साहन से,
पाश्चाताप हीन अन्तर को शोध रहे थे मन से।

पर्णकुटी के लता, विटप खग-मृग पहाड़ सरिताएं,
रघुवीरों के साथ मगन थे मन में दायें बांए।

रामचन्द्र बैठे थे लेकर कमल कली को कर में,
और जानकी आंक रही थी उस छवि को अन्तर में।

रामानुज कुछ दूर खड़े शस्त्रास्त्र सम्हाल रहे थे,
खाली बेतों के तीरों में फलक बिठाल रहे थे।'

इंगित अगस्त्यका बना है राम का विराम गोदावरी-गोद में विनोद हंसने लगा,
विन्ध्य घाटियों में सिन्धु शायी ने है छायी कुटी बांस के लिबास में विलास बसने लगा

अनल पथी के अनुराग भरे अन्तर के सेवाभाव और भी समीप रसने लगा,
पंचवटी समय-शिला की बनी श्यामपटी कोई भाग्य भाल पर कनक कसने लगा।



सत्तरहवां सर्ग

सूर्पणखा की रूपहीनता और राम का आना,
खर दूषण को खला कि जैसे दिया किसी ने ताना।

दस हजार की लेकर सेना को की तुरत चढ़ायी,
रामचन्द्र ने देखा अरि की अनी अचानक आयी।

और लक्षमण ने अपनी कमान पर तीर चढ़ाया,
लेकिन शरसंधान अनुज्ञा नहीं बन्धु से पाया।

कहा राम ने 'संकट में सीता को रक्षित करना,
सच्चा है पुरुषार्थ सदा सद्गति को लक्षित करना।

मैं हूं, एक, तुम्हारा भी पर बल लेकर लड़ता हूं,
इसीलिए अगणित योद्धाओं के आगे अड़ता हूं।

अनुज, जानकी सहित कहीं गिरि गह्वर में छिप जाओ,
मेरी सुन जयकार जीत को जान लौट फिर आओ।'

अग्रज की दृढ़ता पर उस दिन मुग्ध लखन का मन था,
समरोन्मुख सामर्थ्य देखकर उमगा अपनापन था।

चरण स्पर्श से पोंछ पराक्रम की रज शीश चढ़ाया,
सीता को ले साथ निरापद घन-वन में पहुंचाया।

पहली बार लगा लक्ष्मण को जीवन स्वयं समर है,
ऊंचा है कर्त्तव्य, क्रोध से कर्मविधान अमर है।

कोई बड़ा काम कर जाना श्रेष्ठ समर की जय से,
ध्वंस क्रिया से रचना कौशल सबल सिद्धि निश्चय से।

हाहाकार शस्त्र संचालन औ' टंकार धनुष की,
मन को मुग्ध बना जाती थी शक्ति प्रहार-पुरुष की।

पहली बार युद्ध लक्ष्मण ने किया नहीं देखा था,
लिखा जा रहा था लोहू का लोहे से लेखा था।

उनको लगा कि मृगया से भी अधिक मोद प्रसरण है,
जिसमें मनुज निखर उठता है यह वह रक्तिम रण है।

सुन करके हुंकार जानकी डरी लखन निर्भय थे,
क्योंकि अनुज के सभी उपक्रम अग्रज में ही लय थे।

कहा जनक-जाया ने 'होता श्रम संग्राम विकट में,
लगता है देवर उलझे हैं प्राणनाथ संकट में।

मुझे छोड़ इसलिए समर प्रांगण में तुम भी जाओ,
राघव को समुचित सहायता अवसर पर पहुंचाओ।'

बोले स्वस्थ शान्त मुद्रा में सबल सुमित्रा नन्दन,
'मन्द न जय का नाद कभी कर सकते कातर क्रन्दन।

अपने अग्रज के पौरुष प्रतिभा सामर्थ्य समर पर,
मुझको है विश्वास जानकी-जीवन के खरशर पर।

चिन्ता करो न भाभी, अग्रज सेनापति जन रण के,
परम पराक्रम शाली योद्धा पक्के अपने प्रण के।

जिसकी खड्ग धार पर चढ़ता है चरित्र का पानी,
उसका नहीं बाल भी बांका कर सकते भट मानी।

इतने में जग रामचन्द्र के स्वर खग उड़कर आये,
'कहता था न सही' सीता से बोल लखन मुस्काये।

रामचन्द्र के सदाचार के शरसंधान सरल से,
रणमंथन के कढ़े बन गए घातक तीव्र गरल से।

अरिमर्दन कर रामचन्द्र ने जटाजूट को बांधा,
और कार्मुक के अपने फिर काल कूट को साधा।

शान्त हुआ संहार—ग्रस्त संग्राम स्वस्थ सर्जन था,
श्याममेघ में मिल मर्यादित फिर गर्जन तर्जन था।

जैसे आते अनायास बोधक विचार त्रिपुटी पर,
राम लक्ष्मण सीता आए प्रमुदित पर्ण कुटी पर।

पंचवटी में बैठी सीता वल्कल फींच रहीं थीं,
बीच-बीच में जल फुहार से उपवन सींच रहीं थीं।

वैसे सुन्दर एक स्वर्ण मृग सा चंचल चमकीला—
आया हिरण, किलोलें भरकर लगा दिखाने लीला।

लक्ष्मण ने देखा पहले लेकिन अपना मुह फेरा,
समझ गए यह माया-मय है कोई चतुर चितेरा।

लेकिन जनक सुता की उस पर लोलुप दृष्टि पड़ी थी,
जैसे रामकथा से विपदा की जुड़गयी कड़ी थी।

कहा जानकी ने राघव 'से यह मृग बड़ा सलोना,
इसकी चाल ढाल से जैसे चमके असली सोना।

ऐसी स्वर्णिम मृगछाला को प्राणनाथ यदि ला दो,
तो फिर पर्णकुटी को अपनी अलकापुरी बना दो।'

सावधान हो गए लक्ष्मण अपनी सीमा में रह,
सोचा मोह-जनित भ्रम है यह माता का मिथ्याग्रह।

फिर बोले 'भाभी महिलाएं स्वर्ण, वर्ण की दासी,
यह मनचली मछलियां रहती पानी में भी प्यासी।

भला कनक-मृग भी होता है कहीं किसी पशुधन में,
जिस सोने से लुटी अयोध्या वही आ गया वन में।

सोना चांदी ही यदि होता इष्ट यहां क्यों आते,
राजमुकुट को फेंक भाल पर कोरी भष्म लगाते?

सोना ही होता है छलिया यह सोने का मृग है,
काम दहन की गहन-गुहा में खुला तीसरा दृग है।

फिर अग्रज की ओर हुए आकर्षित अनुज लखन थे,
बोले 'बन्धु कि धनुष यज्ञ के पथ में जब मुनि जन थे–

स्मरण नहीं है क्या राक्षस मारीच एक आया था,
जिसके आते ही कुछ क्षण को अन्धकार छाया था।

और बरसने लगे अपावन कच-रद-हाड़ हवन में,
यज्ञानल से उठा धुआं था मतली सी थी-मन में।

तभी आपने बिना फलक के तीर एक छोड़ा था
दक्षिण पथ की अर राक्षस की गति को मोड़ा था

मायावी मारीच वही लंकापति का मातुल है,
आज स्वर्णमृग बनकर करता मां का मन आकुल है।

मेरा निःसन्देह यही मत यह न हिरण साधारण,
कर लें अगर आपभी चाहें तो संदेह निवारण!

रामानुज ने पूर्वापर सम्बन्ध सूत्र जोड़ा था,
मायामय मृग का पाखण्डी पाप कुण्ड फोड़ा था।

लेकिन होनी होती ही है कोई कितना टाले,
विधि का नहीं विधान बदलता कोई युक्ति बिठाले।

कंचन मृग तो सरल प्रकृति के चारु चित्र का पट है,
कहा जानकी ने मन का संदेह स्वयं संकट है।

मृगया में करते कुतर्क कब क्षत्रिय राज सुवन हैं,
यह वन का आखेट धर्मयुत कहते शास्त्र वचन हैं।

रामानुज ने सोचा, नारी का हठ एक व्यथा है,
होकर वही रहेगा जिसका होना बदा यथा है।

मौन साध रह गए यशस्वी आगम के चिन्तन में,
अपने को अभ्यस्त कर लिया पूर्ण आत्म अर्पण में।

सीता के आग्रह से झलकी घटना होने वाली,
मायापति ने पहले ही सारी भूमिका बना ली।

बोले फिर 'उर्मिला कान्त तुम रहो कर्मकक्षा में,
पंचवटी में अपनी भाभी जी की ही रक्षा में।

मैं जाता हूँ जहाँ भगे यह सीधे या कि तिरीछे,
सीता के मन चाहे कौतुक कंचन मृग के पीछे।'

इतना कह चल दिए राम तरकस से तीर निकाला,
स्वर्ण हिरण ने भी अपने को आगे और उछाला।

लथपथ हो रघुवीर विपथ मायामृग हेर रहे थे,
इधर विधाता आगत फल के बीज बिखेर रहे थे।

दूर गहन कानन में राघव ने अपना शर साधा,
और मृत्यु ने काल पाश में मायामृग को बांधा।

मरती बेर छली कंचन मृग फिर मारीच बना था,
जिसके स्वर में रामचन्द्र के स्वर का सार छना था।

'अनुज लक्षमण संकट में हूँ अपना धनुष उठाओ,
मैं हूँ अग्रज राम प्राण संकट में मुझे बचाओ।'

सुनकर भीरु जानकी मृग की कृत्रिम कातर वाणी,
समझा संगर-ग्रस्त हो गए आहत सारंग पाणी।

पास खड़े देवर को देखा दौड़ वहां पर आयी।
वल्कल पकड़ विकल हो बोली विपदग्रस्त रघुरायी।

विपदग्रस्त है वन्धु परीक्षा का आया अवसर है,
विपदग्रस्त है बन्धु आ रहा कब से आरत स्वर है।

आपद ग्रस्त त्रस्त अग्रज है जाकर हाथ बटाओ,
मेरी करो न चिन्ता देवर अपना बंश बचाओ।

रामानुज ने संयत स्वर में कहा 'बन्धु सक्षम हैं,
सकुशल हैं रघुनाथ सभी निर्मूल तुम्हारे भ्रम हैं।

राघव आपदग्रस्त त्रस्त तो कौन सुखी निर्भय है,
सिन्धु निरापद नहीं अगर तो मिथ्या वारि विलय है।

गोदावरी न यदि सागर के बल पर करे भरोसा,
और न मिले निराश निशा को विक्रम किरण करों-सा।

तो फिर पात्र हीनता ही अपनी केवल दोषी है,
पौरुष में प्रतिभा पहले से ही पाली पोसी है।

रामचन्द्र सच में समुद्र हैं क्षुद्र विन्दुवत जग है,
जिनके ओज उछाह शक्ति की थाह न सकती लग है।

नन्ही चिनगारी छू सकती नहीं सौर मण्डल को,
और सांस की हवा न सकती रोक प्रभंजन बल को।

देवराज भी जिनके समर पराक्रम से परिचित हैं,
ओज तेज की धूप दीप से अंग अंग अर्चित हैं।

वे हों आपदग्रस्त अगर तो कुशल क्षेम झूठी है,
और समझ लो यह दुनिया ही अपने से रुठी है।

भाभी धीरज धरो न सूरज को ढांको अंचल से,
अग जग के आलोक केन्द्र अग्रज को अपने बल से।'

सीता का जो मोह न मृग के वध से हुआ निवारण,
वही बना मन में संशय का मूल रूप से कारण।

शंका का जब समाधान होता है नहीं समय से,
बनकर वही क्रोध आच्छादित हो जाता है भय से।

अपने भी विश्वस्त अविश्वासी होने लगते हैं,
अमृतवर्षी मेघ बदल कर विष बोने लगते हैं।

सीता कुपित हो गयीं सुनकर के सुस्पष्ट वचन को,
औ उकसाने लगी व्यंग्य से संयत-अनुशासन को।

बोलीं 'वन में आये समझी क्यों बनकर वैरागी,
और उर्मिला सी पतिभक्ता पत्नी क्यों कर त्यागी?

क्योंकि लगी प्रिय थी न ? तुम्हें पदवी भी परिणीता भी ,
राजमुकुट ही नहीं चाहिए थी पत्नी सीता भी ।

अग्रज को आपदा-कुण्ड में झोंक स्वयं जो भट है ,
जो रचता उनकी पत्नी की रक्षा का नाटक है ।

पाखण्डी है वह रघुकुल का अमिट कलंक कलुष है ,
अवसर पर चढ़ सका न कायर कर का शिथिल धनुष है ।

लखन लाल चुपचाप टहलते रहे विनीत वदन था ,
चढ़ा धनुष पर बाण किन्तु उतरा सा उनका मन था ।,

दृढ़ता दीपित केवल थी मन में आज्ञापालन की ,
अग्रज के आदेश और इंगित के संचालन की ।

बोले 'मां कुछ कहो, न पर रक्षा का भार धरुंगा ,
मुझको जो आदेश मिला, उसका निर्वाह करुंगा ।'

और अधिक जल उठीं जानकी विनयपूर्ण सुन वाणी ,
जैसे जलते हुए तवे पर पड़े बूंद बन पानी ।

बोली व्यंग 'ब्रह्मचारी जी, यह कैसी लीला है ,
भाभी के पीछे देवर की वृत्ति पाप शीला है ।

अब तक शशि में ही था प्रकटा यह कलंक है रवि का ,
कुलांगार तू भोग चाहता, अश्वमेध की हवि का ।

तुझको रोक स्वतः राघव ने जब शिव धनु तोड़ा था ।
तब तू बना अकारण परिणय के पथ का रोड़ा था ।

परशुराम को उत्तेजित कर तप्त तार से तागे ,
तू ने सब के शीश धर दिये परशुधार के आगे ।

यह तो कहो कि अग्रज में ही युक्ति, शक्ति, क्षमता थी ,
वरना नष्ट हो गयी उस दिन जीवन की ममता थी ।

ब्याहे आये अवध वहाँ भी जोखिम जाल बिछाया ,
कैकेयी को भी लगता है तूने ही बहकाया ।

तपसी होकर भोग वृत्ति पर रहनेको आये हो ,
या बनकर विष बंधु भरत के कहने पर आये हो ?'

मां कहकर चिल्लाये पहले पीछे चुबली बांधी,
लगा लक्षमण को जैसे पिल गई सांस में आंधी।

पर सीता का आत्म-जनित संताप और भी कटु था,
अनबोला वरदान किन्तु अभिशाप और भी पटु था।

कहती गयीं जानकी बेधक वाक्य व्यंग विष वाले,
सुनते गये लक्षमण अग्रज का आदेश संभाले।

सहसा जनक सुता भी अपने उग्ररूप में आयीं,
छाती पीट पीट कर रोयीं भरीं और ऊफनायीं।

बोली 'मैं विष पान करुँगी जीवित जल जाऊंगी,
लेकिन लक्षमण हाथ तुम्हारे कभी नहीं आऊंगी।

लो तुम भोगो पर्णकुटी की प्रभुता मैं जाती हूँ,
जल्दी मर जाने को कोई तेज जहर खाती हूँ।'

इतना कहकर उठीं जानकी जलती हुई लपट सी,
अनायास ही अनल खंभ में जैसे गयी लिपट सी।

ऐसा अभिनय किया कि जैसे आया अंत समय है,
आंधी के आगम से कोई कांप रहा किसलय है।

लखन लाल का धैर्य ध्वस्त, संकल्प सभी सूखे थे,
पर्वत पर भी हरिआये जो पानी में रुखे थे।

जिसे न बेध सके तीखे ब्रह्मास्त्र विकट संगर में,
और शत्रु छू सके न छाया माया में मत्सर में।

वह दृढ़ व्रती विंधा नारी के व्यंग नाट्य अभिनय से,
विनय पराजित हुआ पुरुष का, अबला के अविनय से।

लखन लाल ने देखा असमय में अबला की लीला,
असमंजस में तीर समेटा धनुष को किया ढीला।

परिकर बांध पीठ पर संभ्रम तरकस कसा संभलकर,
बोले 'भवतव्यता बुलाती स्वयं न आती चल कर।'

फिर सीता की ओर देखकर और कुपित हो बोले,
'लखन न तू मन को कर छोटा जो होना हो होले।

अग्रज का आदेश आज पहली ही बार टला है,
इतना साफ न इससे होने वाला कभी भला है।

मुझको है धिक्कार और धिक्कार तुम्हें भी माता,
कैकेयी से अधिक विषैली, मैं तुमको हूँ पाता।

मुझ पर यह आरोप चरण रज पर संदेह अनल का,
छिड़क दिया छींटा भी मुझ पर अपने मन के मल का।

मैं जाता हूँ जहाँ राम मेरे गुरु मृगया-रत हैं,
और जहाँ मन मेघ मनुज के रहते भाव विनत हैं।

मैं जाता हूँ जिसको मेरी निश्चल निष्ठा प्रिय है,
जिसके इंगित पर जड़ होकर भी जग यह सक्रिय है।

उसके पास चला मैं जिसका अनुचर अनुयायी हूँ,
जिसका छोर पकड़कर निकला हूँ, छोटा-भाई हूँ।

एक बार फिर पंचवटी को नत नयनों से देखा।
और खींच दी धनुष कोटि से ज्योतित लक्ष्मण-रेखा।

फिर बोले 'मैं चला किन्तु मां इस रेखा से बाहर
पैर न रखना, और भूलना कभी न वे दो आखर।

जिनको जप कर योगी अपनी योग सिद्धि पाते हैं,
और अपावन भी पावन बन कर प्रसिद्धि पाते हैं।'

जैसे निकलीं जनक लाड़ली रेखांकिता परिधि से,
लंकापति ने हरण कर लिया उनका वंचक विधि से।

रावण के कराल भुजदण्डों में पड़ कांप रही थी,
और लक्ष्मण की रेखा को मन से नाप रहीं थी।

जब रावण ने उनको रथ पर बलपूर्वक बिठाया,
रामानुज के पूर्व कथन का अर्थ समझ में आया।

उधर लक्ष्मण शीश झुकाये मन को वेध रहे थे,
लगता था कर पूर्व दिशा में निशा निषेध रहे थे।

सोच रहे थे अबला की भी कितनी वृत्ति सबल है,
पल में अचल हिमालय पल में जल तल सी चंचल है।

कभी बुद्धि बल स्वर्ण-वर्ण पर अर्पण कर देती है,
और कभी अपनी तृष्णा का तर्पण कर देती है।

कभी एक मीठा स्वर सुनकर नाच उठा करती है,
बड़ी सरल बन शीघ्र बोध को बांच उठा करती है।

कभी कुटिल बनकर अगणित बलिदान घटक जाती है,
जीवन देकर वरण किया जो, उसे पटक जाती है।

करते बुध बाला के कहने पर कुछ अमल नहीं हैं,
उथली चंचल सी सरिता में खिलते कमल नहीं हैं।

लेकिन मैं विमूढ़ सीता का व्यंग नहीं सह पाया,
अग्रज का आदेश मानकर संग नहीं रह पाया।

जग में सहनशीलता की भी सीमा होती है।
मोद जनित हो सरल भावना भीमा होती है।

नारी का निर्वेद पुरुप को जितना ही मधुमय है,
उतना ही कड़वा निष्ठा के बदले में संशय है।

सोच रहे थे रामानुज सहसा उठ गयी नजर थी,
रामचन्द्र की अतुलित सी छवि गयी आंख में भर थी।

पैर छुए फिर स्वच्छ मिलन में मधुर एक पल बीता,
और राम ने पूछा 'लक्ष्मण कहां रह गयी-सीता।'

प्रबल प्रश्नसूचक यह स्वर था रामानुज सहमे थे,
अब तक अग्रज का ही ले अवलम्ब-उदार जमे थे।

फिर सब कथा जानकी के कटुव्यंग और विग्रह की,
कह दी सरल भाव से गाथा महिला-मिथ्याग्रह की।

रामचन्द्र गंभीर हो गये सांस जोर से खींची,
कुछ क्षण को फिर ध्यान मग्न हो अपनी आंखें मीची।

फिर बोले 'सह सके न अबला के भी बोल बली बन,
कांटों को छू सके न वन में कांप उठे कदली बन।

मेरा था आदेश जानकी के जीवन रक्षण का,
माया मृग के मोहजाल से मन के संरक्षण का।

पर कठोर तुम रूप न नारी का लक्ष्मण सह पाये,
ऐसे गिरे कि अपने मन के भाव नहीं गह पाये।

कोई कुछ भी कहे जगत यह बाण व्यंग के मारे,
अपने मन की करने वाले हिम्मत कभी न हारे।

तुम अपना संकल्प, क्रोध के आगे साध न पाये,
अपनी भाव नाव पर संयम-पर भी बांध न पाये।

चलो हुआ जो और हुआ हम भावुक भयभीता को,
पंचवटी की पर्ण छावनी में देखें सीता को।'

दोनों भाई चले व्यग्र हो पंचवटी में आये,
पर्णकुटी को सूनी पाकर और अधिक घबड़ाये।

सीते सीते की पुकार से गूंज उठे वन पथ थे,
रामचन्द्र अपना उर अंबुधि रहे विरह से मथ थे।

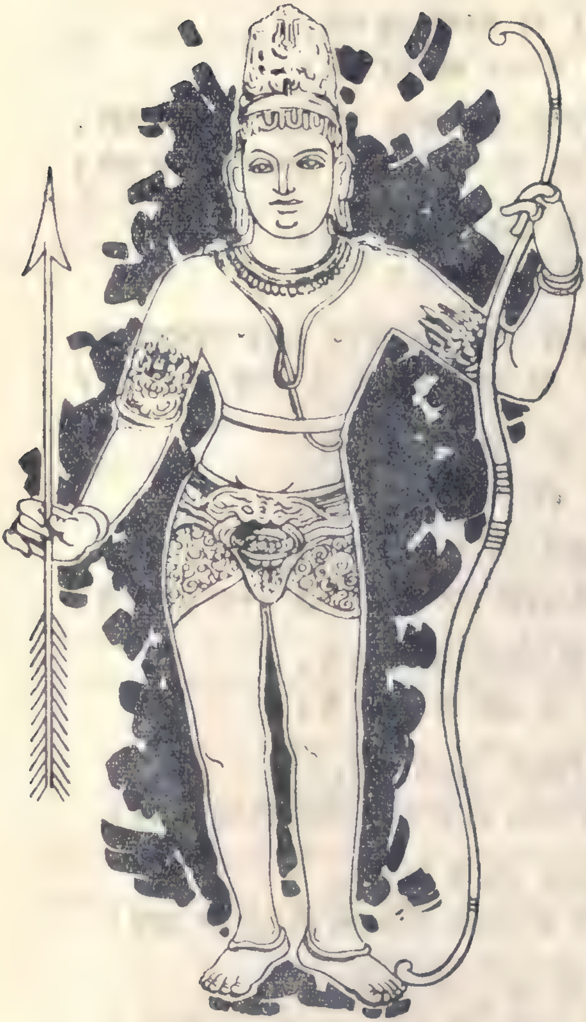
और लक्ष्मण शांत धैर्य की धरती को पकड़े थे,
जिनके अंग अंग अनुशासन के बल से जकड़े थे।

गोदावरी पार्श्व में विलाप करती थी,
और विन्ध्य की उपत्यका उदास, रो रहे थे राम।

सूर्य देवता ज्वलंत, श्याम मेघ में विलीन,
क्षीण सा प्रकाश संधिकाल, हो रही थी शाम।

रामानुज धनुष धरा में टेक, अस्त प्राय,
वंश देवता को अंश रूप दे रहे प्रणाम।'

रक्त नेत्र रोषपूर्ण, सान्ध्य किरणों को चूम,
आधे खुले अंबुज से और लगते ललाम।



अठारहवां सर्ग

प्रातकाल फिर रक्तधार धर दिनकर उदित हुए थे ,
शोक ग्रस्त थे राम अन्य जड़ जंगम मुदित हुए थे ।

किन्तु लक्ष्मण के ताड़ित मन का अब घाव भरा था ,
स्वस्थ हुआ था शौर्य समर करने का चाव हरा था ।

दिन दिन कढ़ता ओज हृदय में और तेज आनन में ,
लगते थे करवाल सरीखे कांटे भी कानन में ।

वन बेलों में लिपट लटकती जैसे तलवारें हों ,
कुशकांटें हों तीर, विकट वन-खण्ड धनुष धारे हों ।

इस रण सज्जा की बेला में कातर क्रंदन, कारण,
अनल कुण्ड के आगे आहुति-हीन करुण उच्चारण।

बोले विनय विभूषित स्वर से 'भइया रण सम्मुख है,
यह कैसा विपरीत विधान विषण्ण आपका मुख है ?

रामचन्द्र विक्षिप्त और संक्षिप्त वचन लक्ष्मण के,
व्यर्थ गए सारे प्रयास रण के आमोद रमण के।

राघव ने अनसुनी उक्ति पर सांस जोर से खींचा,
एक बार फिर लाल लोचनों से जल-धार उलीचा।

फिर मृग चर्म कसा कटिपट से परिकर की गति बांधी,
जटा जूट में लिपट लुप्त हो गयी प्रलय की आंधी।

वाण चढ़ाकर विन्ध्य पर्वतावलि से बढ़कर बोले :—
'कहां जनक नन्दिनी बता तू अपनी गुहा टटोले !

गोदावरी कहां तुझमें तुझसी ही रमने वाली,
सहज चंचला वनदेवी सी वह केहरि कटिवाली ?

वृक्ष लताओ कहो कहां है जिसे यज्ञ में जीता,
धनुष तोड़कर महादेव का, वह सुहासिनी सीता ?

उत्तर मिला न राम और भी क्रोधित होकर बोले,
'अनुज आज फिर कहो न धरणी धँसे न हिमगिरि डोले ?

सहज मनुज हूँ दनुज देव यह जान तंग करते हैं,
और लोक हित की मेरी भावना भंग करते हैं।

सच है गया राज सिंहासन मुकुट नहीं सिर पर है,
मेरी भौतिक भाव भूमि का शिखर न मन्दिर पर है।

यह भी सच मैं निष्कासित हूँ त्यक्त पिता माता का,
राज तिलक का लोभ बन गया प्रतिद्वन्दी भ्राता का।

लेकिन फिर भी राम राम हैं और हलाहल विष है,
जिसके कोपानल में जलते लगता नहीं निमिष है।'

ताने तीर वीर बाने में राम बढ़े जाते थे,
पेड़ों और पहाड़ों पर हुंकार चढ़े जाते थे।

देखा आगे धनुष तीर मुग्दर तूणीर पड़ हैं,
और किसी पक्षी के बिखरे हुए पंख उखड़े हैं।

परम कुपित हो सीता पति ने चढ़ी शिंजिनी तानी,
जैसे बादल ने बिजली की कसदी और कमानी।

बोले 'अनुज आज मैं पर्वतखण्ड काट डालूंगा,
गोदावरी नदी पी लूंगा और पाट डालूंगा।

जड़ जंगम जल जाय भलेही और सृष्टि हो स्वाहा,
सूखे सिन्धु और पर्वत बन उड़े रूई का फाहा।

मेरा शरसंधान न होगा असफल कभी शिथिल हो,
वसुधा संभल नहीं पायेगी बाणों से बोझिल हो।,

रामचन्द्र की मर्यादा का घट भी ढरक चला था,
सर्प सरीखा दर्प उठा था आगे सरक चला था।

डोल उठा भूगोल गिरे पीले पत्ते झड़झड़ के,
बांयें अंग देवताओं के देख दृश्य यह फड़के।

सहसा सम्मुख हुए सुमित्रानन्दन अंजलि बांधे,
अपनी रण चातुरी धुरी से शान्त सूत्र को साधे।

बोले 'कितने युग कल्पों की पूजा का जो फल है,
वह सब एक आप को पाकर गया पुण्य में पल है।

सबकी साध साधना युगकी जिसमें जा सोई है,
आप सिन्धु वह सका न जिस की थाह लगा कोई है।

सहज सुशील स्वभाव कमल सा कोमल कोमल मन है,
कष्ट सहन है धर्म और कर्त्तव्य लोक रंजन है।

अपना आप प्रभाव न त्यागें क्षमा दया समता का,
समदर्शिता संकुचित हो मत भाव भरी ममता का।

भूकम्पों से कभी धरा का भार न कम होता है,
पीड़ा ग्रस्त पुरुष का पौरुष प्यार न कम होता है।

तूफानों से बुझा न सूरज चांद छिपा कब छल से,
किरणों का अंगार चाट कर गयी न गन्ध कमल से।

जगन्नियन्ता आप नीति के नय के भी नेता हैं,
विगत सत्य युग आगत क्रम में बने आप त्रेता हैं।

नहीं सोहता यह अधैर्य का फटा चीथड़ा तन पर,
मेरे भइया का सुनते अधिकार बड़ा है मन पर।

अपना सहज स्वभाव न त्यागें कुछ के अपराधों पर,
जग को करें न नष्ट, रुष्ट हैं यदि कुत्सित साधों पर।,

रामचन्द्र संज्ञाहत सम्भ्रम बढ़ते ही जाते थे,
उक्ति सुमन उर्मिलाकान्त के चढ़ते ही जाते थे।

सीता हरण व्यथा पर इतनी घनीभूत छायी थी,
उड़ा न सकी अनुज की अनुनय पूरित पुरवायी थी।

अपना धनुष समीप, वृक्ष की एक डाल पर टांगा,
रामचन्द्र ने क्रोधित हो कोदण्ड लखन से मांगा।

बोले 'मेरा सरल शान्त शीतल स्वभाव का होना,
दुर्बलता का चिह्न बन गया विनय बीज का बोना।

गुण भी अवगुण बने लक्षमण सीधेपन से छिन में,
सच है तली मछलियां भी बह जाती हैं दुर्दिन में।

गहन सिन्धु के अन्तराल में भरा अभी भी जल है,
पर अब लगने लगा कि उससे बढ़कर बड़वानल है।

राम, चन्द्र अब नहीं सूर्य है जलता तन है मन है,
शील और सौन्दर्य कान्ति पर चढ़ा तेज नूतन है।

जैसे रवि की प्रभा चन्द्रमा पर पड़ती शीतल है,
किन्तु स्वयं से संचारित हो करके उठती जल है।

वैसे ही जानकी यहाँ थी राम सरल सीधे थे,
बड़े कड़े मोती थे पतले तागे से बींधे थे।

किन्तु अनुज कान्ता विरह में प्रेम प्रचण्ड बना है,
सीता रहित राम का रीता उर उद्दण्ड बना है।

लक्ष्मण स्नेह सिन्धु मर्यादा हीन, धैर्य तट टूटा,
पूर्णाहुति से पूर्व पुरोहित गिरा सोम घट फूटा।

पी लूंगा सब वायु पोंछ लूंगा नीलिमा गगन की,
ले लूंगा संहार शक्ति शिव के तीसरे नयन की।

सीता हरी गयी जो कुछ हो अगर समक्ष नहीं है,
तो समझो सब सृष्टि तिमिर चिर रवि प्रत्यक्ष नहीं है।,

इतना कह करके राघव ने कसी धनुष की डोरी,
उद्यत थी आजानु भुजाएं करने को बर जोरी।

बोले अंजलि पुट अम्बुज सी बाँधे हुए विनय की,
रामानुज ने ओर दूसरी मंजिल मन की तय की।

अरुण वर्ण हो उठा शुभ्रतम उर का वेग खुला था,
सम्मुख कटु कर्तव्य देखकर कोमल भाव धुला था।

ओज तेज फुफकार छोड़ता फन काढ़े बैठा था,
गरम रक्त की बूंद बूंद को गिन गाढ़े बैठा था।

स्फटिक शिला से उठे हुए अग्रज के और निकट थे,
सहसा ज्वाला मुखी वृत्त के बन्द हो गए पट थे।

घबराये से शुष्क वदन ले शक्ति भक्ति से तोले,
आतुर हो उर्मिला विलासी जेष्ठ बन्धु से बोले।

'सीता हरण हुआ हो चाहे या हो गया मरण हो,
अगर मान भी लें दनुजों में हुआ परस्पर रण हो।

किन्तु आप तो मर्यादा पुरुषोत्तम अवतारी हैं,
सहज स्वरूप, सत्य शिव सुन्दर अक्षत अविकारी हैं।

अतः पामरों सा प्रलाप यह जँचता नहीं जगत को,
दुर्बलता सोहती नहीं असमय में भी दृढ़व्रतको।

संकट के समूह बादल से घिरते हैं फिरते हैं,
पौरुष के प्लावन के ऊपर ऊपर ही तिरते हैं।

आती है आपदा घटा बन बिजली पहिन जलन की।
बन जाती छू किरण भूमिका बलधारी जीवन की।

यह संकट का पट सबके सुख सौरभ को ढकता है,
किन्तु मोद के मूल स्रोत को बन्द न कर सकता।

कभी कमल भी जल जाते हैं खल जाते तारे हैं,
हिलते हैं पहाड़ उबला करते समुद्र खारे हैं।

आता है तूफान धरित्री अंचल सी हिलती है,
चन्द्र सूर्य की राहु केतु से ग्रस्त दशा मिलती है,

किन्तु न मिटती प्रभा विघ्न बाधाएं कट जाती हैं,
एक व्यक्ति की विपदाएं बहुतों में बट जाती है।

जब तक जगता नहीं आत्मा का अभिमान अमर है,
सुप्त आपका शौर्य सूंघता व्यर्थ विवेक-विवर है।

आगे देख आपदा आतुर बनकर जो रोता है,
मैं उसको ही जगा रहा हूँ जो थक कर सोता है।

अनुभव करें आपदा आयी थी वैवस्वत मनु पर,
अपनी आत्मशक्ति का खीचें तीर धैर्य के धनु पर।

फिर खोजें अपनी सीता को बीता समय नहीं हैं,
रीती पर्ण कुटी ही है यदि रीता हृदय नहीं है।

तो निश्चय जानकी मिलेंगी ज्योतित जंगल होगा,
अवसर तो आने दो मरघट में भी मंगल होगा।

राजनीति, यमनियम, शान्ति, सद्भाव शील-संयम से,
राजा को है उचित काम ले इन सबसे क्रम क्रम से।

जब असफल हो जाय अधर की हँसी कान्ति लोचन की।
वाणी का माधुर्य कर्म की शक्ति कष्ट मोचन की।

तभी उठे तलवार हार जब जाये तप-बल उर का,
कोमल कान्त किन्तु उगता बन उग्र ओज अंकुर का।

उठते को, पर्वत परतों से दाब नहीं सकता है,
औ अंखुआये हुए चने को चाब नहीं सकता है।

अश्रुपात से बात न बनती शत्रुघात संगर में,
पौरुष का ज्वलन्त परिचय है आत्मबोध अन्तर में।

शीतल जल है पेय किन्तु जब वेग विकट होता है,
पानी से पहाड़ कटता है पाहन पट होता है।

इसी तरह जो शान्त सरल हैं संयम शील सुजन हैं ,
संकट में संहार भार से अगर तोलते मन हैं ।

तो वे पुंजीभूत शक्ति के संचालक बनते हैं ,
प्रबल पराक्रम प्रलय सिन्धु में भी पालक बनते हैं ।

सुबह सुनहली स्निग्ध सूर्य की किरणें जब कढ़ती हैं ,
ज्वलन शील बनती है ज्यों ज्यों जागृत हो बढ़ती हैं ।

हिम का शीत कठोर प्रकृति पर पाला बन पड़ता है ,
विद्युत का संचार मेघ से ज्वाला बन लड़ता है ।

सजल सबल बन जाते हैं जब होता सम्मुख रण है ,
इस प्रकार से शान्ति क्रान्ति का पहला प्रकृत चरण है ।

आशंका आतंक अचेतन मन के धूम्र वलय हैं ,
इनसे लिपट न जलते नर के निर्विकार निश्चय हैं ।

कभी कभी बिजली सी जाती कौंध वासना मन की ,
झरने लगते मेघ महोदधि में गतिभर गर्जन की ।

किन्तु न सागर अपनी मर्यादा से हट सकते हैं ,
उठे ज्वार जलधार किनारे कभी न कट सकते हैं ।

क्षण-प्रभा से कभी न जलते बोझिल बादल दल हैं ,
चलती तेग तरंगों की पर कटते नहीं कमल हैं ।

इस जीवन का विम्ब पकड़ कर जलते जो दीपक हैं ,
वे उत्सव उत्साह अनल के बल के उद्दीपक हैं ।

सब में है जीवनी शक्ति जो रहती शान्त सरल है ,
अवसर पर अमृत है तो अवसर पर तीव्र गरल है ।

भइया साहसहीन साधना और शन्ति कृत्रिम है ,
इसी प्रकार ज्वलन्त शौर्य का उपशम शीतल हिम है ।

शान्ति न वह शोभित होती है जो न शक्तिशाली है ,
इसी तरह पुरुषार्थ प्रीति के प्रातः की लाली है ।

पतझड़ ही बसन्त में हँसता बनकर हरियाली है ,
औ हरीतिमा में निदाध–के पावक की लाली है ।

प्रेम घृणा है घृणा प्रेम है केवल यह अन्तर है,
एक प्रश्न तो वहीं दूसरा बन जाता उत्तर है।

इस प्रकार संवेग वासना का चलता रहता है,
बुझता कभी कभी ज्योतित होकर जलता रहता है।

धीर वान गम्भीर हृदय खोता सन्तुलन नहीं है,
होता कभी अशुभ बलशाली का आकलन नहीं है।

भइया आप विरह कातर हैं इससे होता भ्रम है,
यहां न सेना जूझी अथवा अतिविशिष्ट विक्रम है।

एक व्यक्ति के विचलित पैरों से चिन्हित धरती है,
वह था कोई कपटी इसका भी इंगित करती है।

भ्रष्ट आचरण वाला कोई इन्द्र वज्र धारी है,
अथवा कोई बाहुबली असुराधिप अवतारी है।

अगर आचरण से लड़ पड़ता कोई विचलित पग है,
तो फिर अपने आप भोग बन उठती आग सुलग है।

जिससे जलते पतित पतंगे चकित चूम चिनगारी,
एक दूसरे के पीछे बलि होते बारी बारी।

इससे भय अथवा भ्रम के वश हो अनुमान लगाना,
आँसू बहा बहाकर मन को छोटा करते जाना।

पौरुष का उपहास आत्मा का निष्करुण हनन है,
कर्मशीलता की असफलता मात्र करुण क्रन्दन है।

सोंचें आप स्वयं करतें यदि नष्ट प्रजा की रचना,
कहो भला फिर किसके कारण है हम सबको बचना?

क्योंकि प्रजा का रंजन ही है पहिला काम हमारा,
ग्राम नगर वन पर्वत सारी धरती ग्राम हमारा।

वाक्य विहीन पंक्ति में होगा व्यर्थ विराम हमारा,
रचना ही न रही रम सकता किसमें राम हमारा।,

गूढ़ बचन सुनकर लघु भ्राता के सीता पति चेते,
जैसे मिला पुलिन नाविक को नौका खेते खेते।

नील गगन पर जैसे बटुरे दल के दल बादल थे,
वैसे ही जानकी नाथ के माथे पर भी बल थे।

जिनके स्वेत विन्दु में झलकी कुछ विवेक विद्युत थी,
जो निदाध के दिन में उमड़ी ऐसी वर्षा ऋतु थी।

वीरासन में खड़े धनुष पर अपना तीर चढ़ाये,
रामचन्द्र हो तनिक स्वस्थ मन निकट वन्धु के आए।

वैसे ही सन्नद्ध समर में मुड़कर देखा दाएं,
देते हैं उपदेश अगर तो यह भी युक्ति बतायें?

बोले अक्खड़ स्वर में खोजें कहाँ जनक जाया को,
अपने अन्दर की अवगाहित बाहर की छाया को?

बोले विनय युक्त भाषा में 'लखन आप अग्रज हैं,
अवसर पर आश्रित को अपने भी तो सकते तज हैं।

फिर कैसा उपदेश मुझे जो अब तक है बतलाया।
उसका ही अनुवाद कर दिया मैंने जो पढ़ पाया।

धीरज धरें तथा गिरि गह्वर सरि सर को अवगाहें,
और शिखर को भेद बना दें आसमान तक राहें।

कहीं न कहीं मिलेंगी सीता रीता अगर न मन है,
बन जाता ब्रह्माण्ड पिण्ड ही अगर उचित शोधन है।

भइया मिलन विरह का मन्दिर अपने ही अन्दर है,
शोध सिन्धु का जल तल मथता मन का ही मन्दर है।

मन में भी नवरत्न काढ़ने का बल है क्षमता है,
मन की ही है महक फैलती जो बन कर ममता है।

अपना मन ही अपना पन बन मिलन सूत्र बंटता है,
और उसी के पैने रुख से यह बन्धन कटता है।

तब हम कहते विरह और बढ़ जाता दुख दूना है,
मन अपना उड़ गया कहीं तो जग लगता सूना है।

इस मन पर जब बुद्धि आत्मा का चन्दन मलती है,
मिलन विरह दोनों की दुविधा कहीं न तब खलती है।

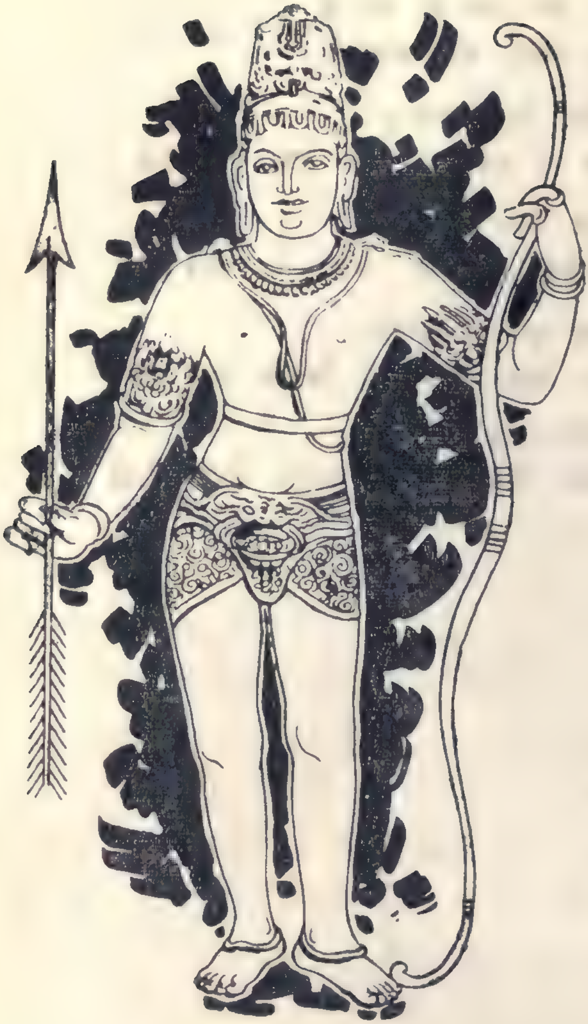
इसीलिए मन की मर्यादा की रक्षा ही तप है ;
मन की दृढ़ता से तन सहता कठिन शीत आतप है।

गूढ़ वाक्य बन्धु के विनीत किन्तु व्यंग्य पूर्ण ,
राम के हृदय को बेध बोध बनने लगे ,

और फिर अरुण प्रभा से लाल लोचनों के ,
रक्तविन्दु चांद की छटा से छनने लगे।

विरह व्यथा की वेणु बन्द हुई वीरभाव ,
आप आन बान के निशान हनने लगे ,

तना हुआ तीर तो उतारा किन्तु आत्म ज्ञान ,
जागा, ओज, तेज के वितान तनने लगे ॥



उन्नीसवाँ सर्ग

राम जा रहे थे कन्धे पर शिथिल धनुष लटकाये,
आँखों में आँसू मन में बिजली की कौंध छिपाये।

भरे हुए सावन के घन से घुमड़ घुमड़ बढ़ते थे,
विन्ध्य पर्वतावलि पर जब तब अनायास चढ़ते थे।

कभी कभी जानकी अस्तमित किरणों सी छलती थीं,
सुधियोंके भर भांति भांति के रंग संग चलती थीं।

एक एक पग चिह्न चमक मग जग को सुझा रहा था,
लगता था बादल बरबस बिजली को बुझा रहा था।

बन जाता तब इन्द्र धनुष था धुंधले सांध्य पटल पर,
जैसे लपट आरती की लग जाय आचमन जल पर।

किन्तु लक्ष्मण का विषाद भी विषधर सा तीखा था,
दर्प सर्प के फण ने होना नत न कभी सीखा था।

गोरे से चौड़े ललाट पर अंगारे जलते थे,
वज्र सरीखे वक्षस्थल पर स्वेद विन्दु ढलते थे।

काले मृग का चर्म वर्म सा चढ़ा धनुष पर शर था,
लगता था अन्तस्थ वीर-रस निकल पड़ा बाहर था।

मुक्त दृष्टि थी रश्मि-रज्जु से लेकिन लक्ष्य बंधा था,
पावक पाहन पानी तीनों का सन्तुलन सधा था।

यह सच है उर्मिला-रमण का दुख जानकी हरण था,
सम्भावित संघर्ष हर्ष था सुख सम्मुख का रण था।

चलते चलते कभी चरण तल तोल लिया करते थे,
मन ही मन जय रामचन्द्र की बोल लिया करते थे।

कभी कभी सन्धान बाण को ढीला कर देते थे,
अरुण किरण को और प्रखर कर पीला कर देते थे।

राई को पर्वत, पर्वत को टीला कर देते थे,
लड़ते लड़ते लू लपटों से लीला कर देते थे।

कभी किसी झाड़ी में झुक कर झांक लिया करते थे,
पथ के अथ से इति का आगम आंक लिया करते थे।

आगे राम लक्ष्मण पीछे तीर धनुर्धारी थे,
जैसे प्रातः काल कुहा के पीछे तिमिरारी थे।

शान्त और नीरव आनन की श्यामलता सूखी थी।
विरह निपीड़ित रामचन्द्र के रस की ऋतु रूखी थी।

सरदी की धुंधलकी सुबह से राघव बुझे बुझे थे,
नहीं मार्ग मैथिली मिलन के अब तक कहीं सुझे थे।

पीछे से सौमित्रि शरासन धर धरती के धारी,
ओज तेज से बांध रहे थे सघन श्यामता सारी।

सीता पति का शोक शिथिल मन रह रह जाग रहा था,
और भैरवी का ज्योतिर्शर बेध विहाग रहा था।

धीरे धीरे लौट रही थी चेतनता आनन पर,
शुभ्र ज्योति पड़ती जाती थी जिसकी सहसानन पर।

अग्रज थे आश्वस्त अनुज का ओज अग्रचारी था,
कर्म शीलता से कुन्दन भी बना क्रान्ति कारी था।

राघव का उत्साह लक्ष्मण के कौशल का फल था,
अरुण किरण की गरमी पाकर खुला शीत शतदल था।

आगे राम लक्ष्मण पावन पथ के अनुयायी थे,
दण्डक-वन से गये क्रौंच–वन को दोनों भाई थे।

सोच रहे थे रामानुज कैसी विरंचि रचना है,
जिसको गहते हैं जग मग में उससे ही बचना है।

महिला मंगलमयी अगर चेतना रूप देवी है,
जिससे मिलती ज्योति, पुरुष भी उसका पद सेवी है।

नारी का सम्पर्क स्वयं मधुमिश्रित और मदिर है,
जिससे जाता कभी आत्मा का विकास भी घिर है।

तब वह त्याज्य कि जैसे सूरज सन्ध्या तज देता है,
संतति कामी पत्नी को जो वन्ध्या तज देता है।

जिसका प्रेम प्रगति पोषक है और कर्म-संकुल है,
जिसका मुखर धर्म केवल अभिव्यक्ति मौन मंजुल है।

उसका रूप छांह देता है जिसका स्नेह सघन है,
और वही संकट में पड़कर बनता संघर्षण है।

इस प्रकार अभिव्यक्त न होता जो है भाव हृदय का,
उससे ही अपना पाटम्बर बुनती प्रकृति प्रणय का।

उसमें ही वह आकर्षण है जिससे सृष्टि सधी है,
चांद सितारों के नभ मण्डल की भी दृष्टि बंधी है।

दिल, दीपक, दारानुराग जब दूर दूर जलते हैं,
तब मीठी रोशनी फेंकते हैं मन को छलते हैं।

इस मीठे मौसम में जिसने कड़ुआपन चीखा है,
उसमें जगता तेज कि जिससे कटता तम तीखा है।

जहाँ प्रेम है वहीं पराक्रम के आते अवसर हैं,
यह है अजपा जाप कि जिससे जग पड़ते शंकर हैं।

यही प्रेम अग्रज के सोये पौरुष को परखेगा,
ओज तेज का पावक ज्वालामुखी, सहेज रखेगा।

सोच रहे थे रामानुज इस तरह विकट वन पथ पर,
प्रगति पताका उड़ती जाती थी जीवन के रथ पर।

सम्मुख दिखा क्रौंच-कानन में ऐसा एक विवर था,
जिसके आगे द्वार पाल सा संस्थित विन्ध्य शिखर था।

रामानुज ने धनुष कोर को उसमें डाल थहाया,
आनन का प्रकाश उछला कुछ फिर सामने समाया।

गहन गुफा में अब तक जो अपने में आप सुखी थी,
बाहर निकली तमीचरी आकुल हो अयोमुखी थी।

देखा रूप सलोना आँखों के समक्ष झिलमिल है,
जिसकी ज्योति नयन की उसकी गयी ज्योति से मिल है।

आगे आयी अयोमुखी भुज में भर लिया लखन को,
जैसे आतुर अन्धकार भर लेता दीप-दहन को।

बोली 'तुम उतने सुन्दर हो जितनी मैं सुन्दर हूँ,
उतने ही बलिष्ठ हो जितनी खुद मैं ताकत-वर हूँ।

दोनों करें विहार विपिन में समुद शिखर पर घूमें,
विचरण करें कभी धरणी पर कभी चाँद को चूमें।

जप अर्चना और तप तृष्णा का ही असफल रुख है,
सदाचार, हो जाना जीवन से आनन्द विमुख है।

ब्रह्मचर्य, किंपुरूष-वर्ग का संविधान चोखा है,
भरी जवानी में संयम साधना सिर्फ धोखा है।'

जिनको अब तक मन में रख कल्पना-कोष में पाले,
एक सांस में अयोमुखी ने वे उद्गार निकाले।

अयोमुखी के आतुर हो खुल गये काम लोचन थे,
और उर्मिला कान्त सुन रहे सरस प्रेम प्रवचन थे।

सहसा सजग हुये रामानुज दमक उठा मुखमण्डल,
खुला बाहुबल जैसे कीचड़ में खिल पड़े कमल दल।

वक्षस्थल विस्तीर्ण हो गया प्रबल पखौरे फूले,
और लगे संकोच सिन्धु में उठने आग बबूले।

सहज तपस्वी लूकलपट सी जलती हुई जवानी,
अयोमुखी के अंकस्थल में ऊब गयी अकुलानी।

जैसे बादल से बिजली की बँधे विभा बलिदानी,
रुक जाये कुछ देर बांध से प्रबल बाढ़ का पानी।

वैसे ही उर्मिला-विलासी बाहु-पाश के बस में,
विकल हो गये थे आलिंगन की अपवित्र उमस में।

आकस्मात् पड़े माथे पर बल मुँह लाल हुआ था,
वक्षस्थल में भरी वायु तो ओर विशाल हुआ था।

फड़क उठे भुजदण्ड कस गयी सारी रक्त शिरायें,
आंखों से उड़ चलीं चिनगियां लाखों दायें बायें।

एक बार हुंकार कसा जब कंचन सी काया को,
टूट गया भुज पाश भेद कर मोह मयी माया को।

अयोमुखी के अंक स्थल से रामानुज बाहर थे,
काले कुहा कोट से सत्वर कढ़े यथा दिनकर थे।

अंक स्थल से अलग सुमित्रानन्दन दूर खड़े थे,
अब तो और साधना संयम में हो गये कड़े थे।

तप से तपी हुई तरुणायी तेजस्विनी बनी थी,
कुत्सित विभव विलास विजय से छाती और तनी थी।

ओज और अंगार सरीखा दमका दहक उठा था,
विकट बाहुबल कौतुक पथ पर बिचरा बहक उठा था।

सहसा मधुर उर्मिला की पावनता उठी निखर थी,
और सरस स्मृतियों की समिधा मन में गयी बिखर थी।

यज्ञानल सो जली जवानी पावन और प्रखर थी,
वीर-वृत्ति सामान्य खेल कुछ करने को तत्पर थी।

तमीचरी गिर पड़ी शिला पट पर फिर उठी सम्हल के,
जैसे उल्का पात उड़ चले फिर खगोल में जल के।

या कि गिरे विषधार धरातल को छूकर के छलके,
अयोमुखी विकराल रूप धर आयी उछल उछल के।

सम्हल गये सौमित्रि हाथ से खड्‌ग उसी के छीना,
तमीचरी को किया नासिका रहित विलास विहीना।

निशाचरी नीरव से वन में रोती हुई समाई,
जैसे काली रात बादलों की छाया में आयी।

आगे बढ़े यथावत् राघव अतिलाघव पदक्रम थे,
पथ अन्वेषण शील उर्मिला के उदार प्रियतम थे।

प्रतिपल जागरूक सक्षम शंकित सन्नद्ध समर थे,
राम लक्ष्मण दोनों पथि-गत क्लान्त और कातर थे।

सीता का विछोह रह रह कर मन बिगाड़ देता था,
गड़ती धीरज ध्वजा उपक्रम से उखाड़ देता था।

सहसा हिले शिखर कानन तरु बिखर गयी वन श्री थी,
पत्ते झड़ने लगे पेड़ से वन में वायुभरी थी।

चौंके रामानुज फिर सम्मुख लक्ष्य तीर का ताना,
और किसी आसन्न आक्रमण की गति को पहचाना।

बोले 'भइया कुछ अनिष्ट सा वातावरण बना है,
ऐसे अवसर पर हमको भी सावधान रहना है।

फिर गम्भीर मेघ गर्जन से वन-मेदिनी हिली थी,
बिजली सी चीत्कार धुरी से गति आसुरी छिली थी।

पल-भर में ही पर्वत सा आकार उभर आया था,
शून्य धरातल पर भव भय का भार उतर आया था।

शीश हीन मुख हीन विकट सम्मुख दुर्दम दानव था,
शाखा रहित वृक्ष सा जिसका भक्ष्य लक्ष्य मानव था।

गज केहरि बराह गैंडे के सिर शलाख में छेदे,
भाले से भयभीत विपिन के वातायन को भेदे।

अट्टहास करता मुँह में मज्जा का मोद लपेटे,
और रुधिर में प्राण अनगिनित पशु पक्षी के फेंटे।

फेनिल तम वीभत्स घिरा था चारों ओर बदन के,
दांतों में उलझे थे फुचरे शेष मांस भक्षण के।

मुंह में ही था पेट पेट में तीखे दांत लगे थे,
और अधर पुट हिंसा प्रतिहिंसा में कुपित पगे थे।

रामानुज संधान बाण को सधे धनुष पर तोले,
वीरासन में बंधे बन्धु से मद्धिम स्वर में बोले।

'भइया यह विकराल विपिन में वनचारी आया है,
पड़ी मृत्यु सी काली जिसकी शीश हीन छाया है।

आप कहीं जाकर छिप जाएं मैं इससे लड़ता हूँ,
और विन्ध्य-गिरि सा अलंध्य होकर आगे अड़ता हूँ।

हो सकता यह मुझे मार ले यदि मैं इससे हारूं,
अथवा मैं ही सम्मुख रण में चढ़ इसको दे मारूं।

हम दोनों को द्वन्द युद्ध करने दें बीहड़ वन में,
और आप मत पड़ें बीच में इस नगण्य से रण में।

सीता की सुधि और अवध का काल ग्रस्त सिंहासन,
दोनों का आधार आपके जाग्रत जीवन का प्रण।

यदि मुझको मिल गयी वीर गति अन्तर अधिक न होगा,
कीर्तिवन्त छोटे पक्षी के बध से बधिक न होगा।

किन्तु अगर हो गया आपका कुछ अनिष्ट संगर में,
तो अपकीर्ति अमिट रघुकुल की होगी भारत भर मे।'

रामचन्द्र मुस्काये अपना तीखा तीर चढ़ाया,
तब तक बली कबन्ध सामने और उछल कर आया।

दोनों रघुवीरों को उसने ऊपर उठा उछाला,
फिर अपने दोनों कन्धों पर उनका भार सम्हाला।

रामानुज ने खड्ग वार की विधि पहले उद्घाटी,
बायीं भुजा कबंध असुर की अनायास ही काटी।

अग्रज ने भी किया अनुकरण अपने अनघ अनुज का,
काट दिया दाहिने हाथ का जकड़ा बन्धन भुज का।

क्षत-विक्षत करके मायावी को गड्ढे में डाला,
रामानुज ने क्रिया-कर्म का फिर उपाय कर डाला।

बली हाथियों की तोड़ी सूखी लकड़ियां सहेंजी,
और चिता को चुनकर तर्पण में लादी कुछ तेजी।

मरती बेर दनुज बोला फिर 'कोई मर्म जगत का,
अब पूछो तो बता सकूंगा आगत और विगत का।'

रामानुज ने कहा 'असुरपति कोई जनक लली को,
तोड़ ले गया दण्डक बन से कुल की कीर्ति कली को।

कौन ले गया हर भाभी को हमको नहीं पता है,
जाने कहां पड़ी पथ में आधार विहीन लता है?'

बोला असुर 'तनिक दक्षिण पश्चिम के नापो मग को,
नत सिर ऊँचा करो बढ़ाओ आगे उठते पग को।

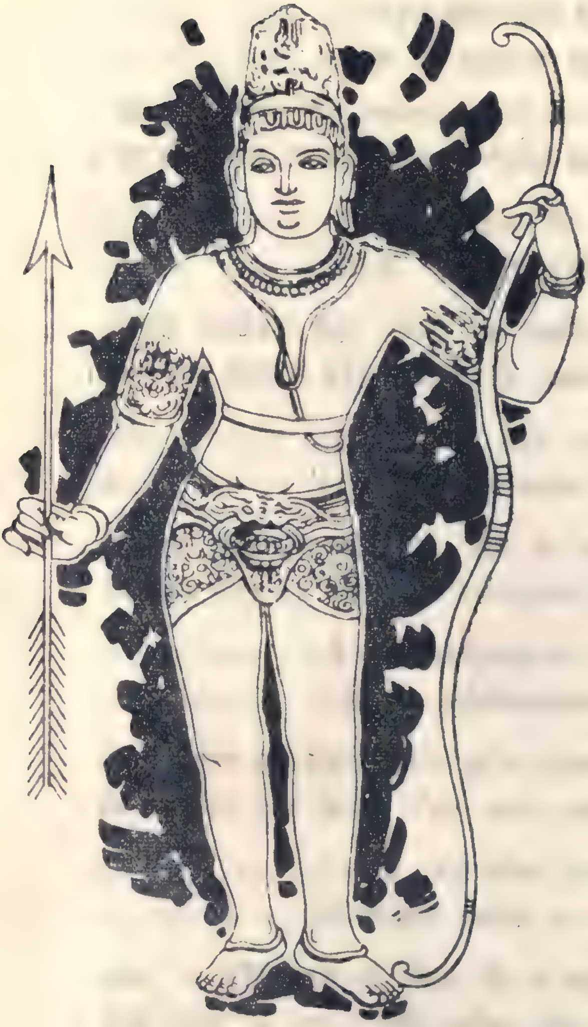
अति सुरम्य वन-खण्ड मिलेगा ऋष्य मूक ऊपर है,
जिसके मध्य शुद्ध जल तल का शोभित पम्पासर है।

वहां राम से ही पत्नी के विरह-वह्नि, में जलते,
वानर पति सुग्रीव मिलेंगें पथ में चलते चलते।

रामानुज ने सुनी बात फिर अग्रज को बतला दी,
फिर चुन चुकी चिता में आगे बढ़कर आग लगा दी।

विरह विषाद में विनोद भरने के लिये, बोले व्यंग्य उर्मिला के कान्त 'अन्त हो गया,
व्याघ भी विराध सा गढ़े में हाथ पांव मूंद, राम के प्रताप का प्रसाद पाके सो गया।

भरत बनेंगे भूप और बनवास यूप, अनुरूप आप के विरंचि जो सँजो गया,
लाख ब्रह्मचारी रहे किन्तु भाग्य क्षेत्र में तो मेरे वही क्रिया-कर्म का विधान हो गया।।'



बीसवां सर्ग

बालि विलीन हुआ राघव के लाघव लौह-पटल में,
पाप-पंक में फंसा फूल खो गया युद्ध के जल में।

मुक्त हुए सुग्रीव विकट, विध्वंश बंधु-विग्रह से,
प्रमुदित थे सौमित्रि, शुद्ध मन मुग्ध मित्र-संग्रह से।

आगे पड़ा हुआ अग्रज-कपि मर्दित पौरुष-बल था,
विजय-वेणु से बजा राग, पर गया अनुज को खल था।

सहमें से सुकंठ ने अपना अंग-भंग जब देखा,
सहसा खिंची अधर पर असमय में क्रंदन की रेखा।

जैसे प्रातः काल निकलते हुए सूर्य में व्रण हो,
और ब्रह्म-वेला के मंगल-क्षण में लगा ग्रहण हो।

पहले हँसे विजय के मद में हाथ खून से धोये,
फिर सुकंठ कर याद बंधु की फूट-फूट कर रोये।

बोले, 'व्याज, साध से धन का दिया समूल गंवा है,
और सहोदर-बध से अर्जित विजय बनी विधवा है।

मैं भी आत्मघात कर लूंगा अंगद राज करेंगे,
जो भी हों कपिराज राम का वे ही काज करेंगे।

खड़े त्रिभंग परुष-मुद्रा में धनुष शिला पर रोपे,
राम काज में द्विविधा के स्वर सुन कर लक्ष्मण कोपे।

आंखों में अंगार सांस में हवा भरी आंधी की,
पचा गये, विष-बेलि रही बलि में बांधी-बांधी की।

मुस्काए कुछ यथा सूर्य पर श्याम घटा की छाया,
अथवा तप्त मरुस्थल में ठंडा-सा झोंका आया।

फिर बोले कुछ व्यंग वितृष्णा भरे भाव में हँस कर,
'यह कैसा संन्यास स्वयं ही जगत जाल में फंस कर ?

जब तक मिला नहीं मनचाहा, स्वाहा-स्वाहा बोले,
जब मिल गया यज्ञ का फल तब, बनते इतने भोले।

काला दाग सदा काला है चाहे चन्द्र-पटल हो,
जो सफेद वह श्याम न होता भले भित्ति श्यामल हो।

बड़ा बड़प्पन खो करके यदि, काम-क्रोध में रत हो,
उसके आगे छोटे का कैसे-फिर शीश विनत हो ?

अग्रज होकर अगर अनुज के उन्नति का फल तोड़े,
और बिछा दे उसके आगे राह रोककर रोड़े।

तो फिर अनुज दनुज उसका है काम-रूप है यम है,
अपना हित जिससे वह अपना यह सामान्य नियम है।

बालि निपात नियत पातक के वैर-वृक्ष का फल है,
तुम निमित्त हो मात्र बंधु-बध व्यर्थ रहा क्यों खल है ?

किन्तु कंदरा में प्रविष्ट अग्रज को बिना बताये,
धीरज खोकर तुम उल्टे पांवों जब वापस आए।

यह अविवेक तुम्हारा कपि-वर यह अधैर्य था मन का,
अग्रज का आदेश अनुज के लिये, बोध जीवन का।

दोनों ही दोषी हैं लेकिन, तुमने बात बना ली,
राम रूप अभिषेक, सलिल से मैली रात उजाली।

उठो शोक तजकर सिंहासन, जो मिल गया सजाओ,
अपनी तुरही ताल, मेल से, अलग न व्यर्थ बजाओ।

जो दायित्व बलिष्ट-भुजा की, मांस-पेशियों पर है,
उसे तोलना ही कौशल है सहज, सिद्धि का वर है।

तुम सुकंठ कपिराज बने हो, व्याज राम का शर है,
मिला मूल-धन बंधु-घात से तो फिर किसका डर है?

जिसकी वृद्धि मूल, निधि को भी मूल्य हीन करती है,
पनपाये पौधे को पुनि, पल में विलीन करती है।

बालि-राज्य का भोग लक्ष्य था, योग तुम्हारे शुभ हैं,
जिसमें कौड़ी की कीमत में, मिल सकते कौस्तुभ हैं।

राम-काज के लिये राज्य, पद, तुमको प्राप्त हुआ है,
बुंद समझ लो वारिधि में, मिल करके व्याप्त हुआ है।

जाओ किष्किंधा विंध्याचल भी संध्या सा चुप है,
काल कुहासे में अकाल ही, गया बाल रवि छुप है।

सोच विचार परीक्षण शोधन का यह नहीं समय है,
शव समक्ष जब तक तब तक यह आत्म-ग्लानि अभिनय है।

जो अपना दायित्व गेंद-सा, लेते लोक मुदित हो,
सूरज सुबह सोचता पहले, उनकी और उदित हो।

पहले शव सम्मान सहित अंत्येष्टि यज्ञ को दे दो,
तो फिर चाहे घाव पुराने, दिन-दिन बैठ कुरेदो।

शोक-दग्ध भी लोक-धर्म से कभी न सकता बच है,
अग्रज का मृत-कर्म तुम्हारे, धर्म-कथन से सच है।

पहले करो कपाल, क्रिया शव दाह-भूमि ले जाओ,
उठो सुकंठ और आगे का, अब विस्तार बनाओ।'

इतना कह उठ पड़े स्वयं ही, रामानुज सक्रिय हो,
बोले, 'मेरा साथी जिसको कर्म, धर्म से प्रिय हो।

आखिर को सुग्रीव शिथिल होकर उठ पड़े सभय हो,
अपनी जीत दबाकर बोले, 'रामचन्द्र की जय हो'।

शव को सुन्दर-सी अर्थी पर, सिरजा और सजाया,
पंपासर से अग्रज की रज किष्किधा पहुंचाया।

अन-मनस्क से राम नयन निर्मेष, स्वेद-कन तन पर,
बैठे डाल बोझ सब मन का, उद्यत से लक्ष्मण पर।

'सुहृद सुकंठ ध्यान दें बोले मधु पर, मंगल-घटपर,
वर्षण की ऋतु बीते अपनी इसी प्रवर्षण पट पर।

सबका समाधान सबका सम्मान कष्ट मोचन कर,
और जटिल-जीवन सहता हूं अश्रु-पूर्ण लोचन कर।

स्वयं अनाश्रित अपमानित हूं औरों का त्राता हूं,
अपना राज्य और पद दोनों खोकर भी दाता हूं।

लगता बँधा बाहुबल अपना, पौरुष बिका बिखरकर,
मिला धूलि में भाग्य सितारे-सा निरुपाय निखर कर।

धनुष शिथिल हो गया तीर की नोकें कुंद हुई हैं,
पावस ऋतु में विरह व्यथाएं वारिद बुंद हुई हैं।

अपने ही ऊपर गिरता है अपना फेंका पानी,
यह कैसी बेबसी अनुज यह है कैसी नादानी!

नील-गगन-सा मन भी मैला मिलकर काम-जलद से,
अब न गंध आती है मादक गौरव गज के मद से।

सूखा-सा तापस जीवन है उसमें भी संकट है,
अनुज न जाने क्यों मेरी मति गयी कष्ट से कट है।

सारे भू-मंडल में रावण ने शर-वेध दिया है,
पावस-ऋतु में पास बैठकर पंथ निषेध किया है।

दुर्दम दैत्याकार-दसन में दबी हुई दुखिया है,
घन है स्वयं दशानन बेबस बिजली बनी सिया है।

पर्वत पर गिरती जब बूंदें वज्र-नाद झरते हैं,
कुसमय में पानी के बुल्ले भी विवाद करते हैं।

अनुज कहो कैसे सह लूं सब विधि-विधान विष पीऊं,
मन कहता है लौट चलूं बन भृत्य भरत का जीऊं।'

तमकि उठे सौमित्रि तेज की लहरें और तपी थीं,
बंद अधर पंकज की पांखें उधरी और कँपी थीं।

नस-नस में सहस्त्र फन की फुफकार रुधिर उबला था,
अंतर का आवेश बहुत कुछ बाहर फूट चला था।

उसको अनुशासन-पालन-अंगार बिछाकर रोका,
जैसे उठता ज्वार स्वयं पी जाय वेग लहरों का।

एक दृष्टि डाली अग्रज पर गीली गरम-गरम-सी,
फिर खोजी कुछ भाव-भूमि पर्वत पर नरम-नरम सी।

बोने लगे बीज वाणी के अमित अर्थ गर्भित-से
ज्ञान-गिरा से लगे निकलने आशय संदर्भित-से।

'बंधु शंभु-धनु-भंजन कर अब त्रसित काम के धनु से,
परिरक्षित कर सके न जो पायी परंपरा मनु-से।

शोक मनोरथ को मूंदे है शौर्य वासना-रत है,
पंगु पराक्रम मन की मुद्रा भी आशंका-हत है।

पर हम बाला के बिछोह में अपना बल भूले हैं,
पूर्ण स्वस्थ, लेकिन लगते अब, हाथ पांव लूले हैं।

पुरखे अपने धर्म-व्रती थे किन्तु धनुर्वेदी थे,
नख से सागर खन सकते थे औ' पताल-भेदी थे।

अपना सब पुरुषार्थ प्यार के हाथों नहीं रहन हैं,
भइया भाव और भी मन में मात्र न विरह-मिलन हैं।

शोक शक्ति से ही जाता है शक्ति संतुलन में है,
और संतुलन निर्भयता में गति का गुणन घुलन है।

आस्थावान वीर रघुवंशी आप अयोध्या वासी,
पूजित मर्यादा पुरुषोत्तम ईश्वर के विश्वासी।

शुभ कर्मों का संचय तप से तपती तरुणाई है,
आंखों में उगते सूरज की शोधी अरुणाई है।

यह आजानु बाहु धोखे के हाथ नहीं झुट्ठे हैं,
ओज-तेज से पोषित पौरुष भरे हुए पुट्ठे हैं।

कर में क्रिया शीलता पग में प्रगति रंग रचती है,
पानी से भी बुझी न जो वह आग नहीं पचती है।

लखन, सहसफन छोड़ते थे फुफकार,
आया ज्वार जो विछोह-सिंधु में उतर गया,

बोले व्यंग रघुवीर मौन-भंग हुआ जैसे,
वाग्जाल कौतुक-कपोत था कुतर गया।

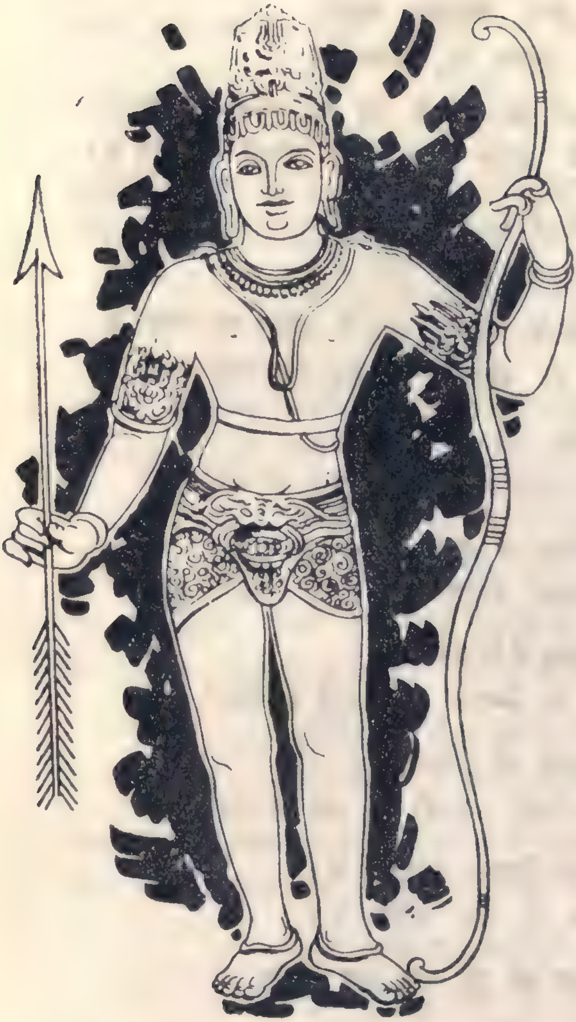
आया था जिधर से लीलाधाम में विराम चिह्न,
बन के विषाद उल्टा उड़ भी उधर गया,

अग्रज बने थे रिक्त अनुज को तिक्त देख,
चित्त दिया जानकी में वक्ष था उभर गया।

वेधक जो विदग्ध अविदित थे,
वीर-भाव हो गये उदित थे।

किन्तु विरह अब भी रह रह जल उठता।

अन्तर में अंगार नयन जल,
भरे छलक उठते थे छल-छल।
लगता था मारीच बीच छल उठता॥



इक्कीसवां सर्ग

विरहाकुल रघुनाथ गगन में मलिन-वदन दिनकर था,
ऋष्यमूक गिरि वृन्द सामने शोभित पम्पासर था।

मन में था विषाद आंखों में शोभा भरी विपिन की,
जैसे सद्यस्फुरित सुमन पर बूंदें गिरीं तुहिन की।

एक हाथ में तीर दूसरे में कमान साधे थे,
कसे पीठ पर तरकस कटि-तट वल्कल में बाँधे थे।

कुश-कांटों की झाड़ धनुर्ज्या में जब जब लगती थी,
मन-वीणा से कातर-सी झन्कार एक जगती थी।

जो संशय को भेद किसी निश्चय तक ले जाते हैं,
पीड़ित मन को मधुर मैत्री का बल दे जाते हैं।

बोले 'सखा-धर्म' रघुनंदन 'विक्रम पर वारूंगा,
अभय बनो कपि राज बालि को निश्चय ही मारुंगा।'

इतने में सीता-वियोग की उठी हूक सी उर में,
समझ गये सुग्रीव लूक यह लहकी लंकापुर में।

कहा सहज होकर सुकंठ ने 'सुहृद धैर्य को धारें,
होंगी प्रकट जानकी ज्योत्स्ना से यदि आप पुकारें।

फिर भी मैं खोजूंगा जननी को जल-थल में नभ में,
जोडूंगा फिर किरण आपके जीवन ज्योतिर्प्रभ में।

एक बार बैठे थे हम सब कपि समूह मन मारे,
लगा जा रहा राहु व्योम से हर कर चांद-सितारे।

देखा किसी विहग ने उठ करके उसका पथ छेंका,
उसी समय कातर रमणी ने आभूषण-पट फेंका।

इतना कह कपि-राज गुफा तक गये और फिर आए,
सीता के भू-लुंठित भूषण वसन आदि ले आए।

'हा सीते' कह लिया राम ने कर्ण-फूल को कर में,
नारी का निर्वेद यथा पहुँचा घर छोड़ समर में।

श्यामारुण करतल पर उनके सोने का झूमर था,
जैसे हिमगिरि पर तुषार हत उगा दलित दिनकर था।

जिसकी टूटी किरण पताका को ध्वज दंड मिला था,
उड़ कर जिसका जुड़ा युद्ध में अनल खंड पहिला था।

उत्तरीय कर स्पर्श सिया-वर ने आभूषण चूमे,
होकर कुछ उद्विग्न अनुज की ओर अचानक घूमे।

पूछा 'भला सुमित्रानन्दन तुमने तो देखा है,
भूषण पट पर पड़ी कहीं मेरी स्मृति की रेखा है?

उछल पड़े सौमित्रि पांव के नीचे अंगारा था,
क्योंकि दाँव पर लगा जनम का व्रत-संयम सारा था।

और विरह्-बेधित-वाणीका उठता मौन निखर था,
हा सीते का हर-स्वर जाता चारों ओर बिखर था।

ऊंची सांस उमड़कर उठती बादल बन जाती थी,
और आंख में उतर तरल आंसू सी छन जाती थी।

राम जा रहे थे धारा में बहते-से उमगे थे,
और लक्ष्मण उठी लहर से उनके साथ लगे थे।

वृषभ स्कंध वक्षस्थल विस्तृत अरुण नयन आनन थे,
लगता था दो सिंह सबल फिरते कानन-कानन थे।

ऋष्यमूक-पर्वत पर थे सुग्रीव उधर मन मारे,
देखा दो सेनानी पंपासर के खड़े किनारे।

समझा वैरी-बंधु बालि ने भेजे दो भेदी हैं,
तपसी को तीरें-तलवारें उसने ही दे दी है।

'जाओ कपि, केसरी सुवन साधारण-जन बन नीचे,
और इधर मैं बाण शरासन पर हूं अपना खींचे।

दोनों का मन जान हमें इंगित से बतला देना,
भाग सकूं मैं जिससे लेकर अपनी समिधा-सेना।,

गये पवन-सुत जहां राम पीड़ित लक्ष्मण चिंतित थे,
अंगारे पर पड़ी राख-सा वदन वसन वर्जित थे।

दबे पराक्रम के पावक की आभा तनिक मलिन थी,
विरह विदग्ध देह से उठती आँच वही लेकिन थी।

लगता था प्रचंड रवि शोभित किंचित काल-कुहा से,
धूल धूसरित व्याघ्र व्यथित बन निकले गहन-गुहा से।

पग-वंदन वजरंग बली कर लगे पूछने परिचय,
दिखा दिया संक्षिप्त अनुज ने अंतर तल आभा मय।

स्वस्थ हुए हनुमान उठाकर कंधे पर बिठलाया,
राम लखन को पंपासर से पर्वत पर पहुँचाया।

राम और सुग्रीव एक ही बरछी से बींधे थे,
पत्नी-विरह-दग्ध दोनों के मर्म सरल सीधे थे।

दो पग पीछे हटे और फिर हाथ जोड़कर बोले :—
किसके ताकत भइया भूषण भार धरा पर तोले ?

मैं तपसी फिर तरुण गरम है मन भी और वदन भी ,
कैसे परखूंगा सोने का कन भी और गगन भी ?

मैंने देखा सदा शत्रु के चौड़े वक्षस्थल को ,
देखा नहीं पीठ पर या माथे पर पड़ते बल को ।

मैंने देखा सदा सामने बहते गंगा जल को ,
देखा नहीं बँधे नालों से दबे हुए दल-दल को ।

निरखा मैंने निरालंब आकाश नील फैला-सा ,
निरखा नहीं कभी भिक्षापट मर्दित मट-मैला-सा ।

मैंने पायी प्रति पुस्तक में मानवता गीता-सी ,
जग में केवल एक उर्मिला हर नारी सीता-सी ।

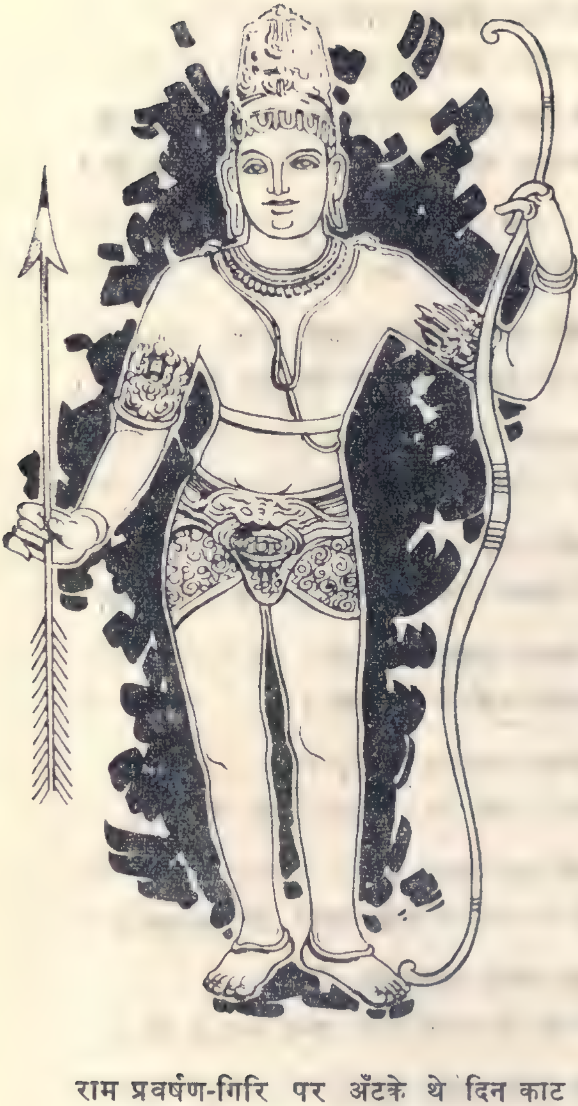
मैंने देखा नहीं तार को पकड़ा सुमधुर सुर को ,
आभूषण में अब तक निरखा नारी के नूपुर को ।

जनता नहीं हूँ रमणी का रमणीय संग ,
अंग-अंग रण के उमंग रंग में रँगे ,

जानता नहीं सुमनों की गंध आज बढ़ा ,
बाटों में कराल कर्म कांटों में लगे-लगे ।

आँखें न चरण चिह्न चूम कभी, आगे बढ़ीं ,
कान में न मन्त्र किसी अन्य यन्त्र से जगे ।

भावना के भ्रमर समेट पंख शांत हुए ,
माता के पदारविंद के पराग में पगे ॥



बाइसवाँ सर्ग

राम प्रवर्षण-गिरि पर अँटके थे दिन काट रहे थे,
और लक्ष्मण वर्षा-से विगलित पथ पाट रहे थे।

हाथों में फावड़ा हृदय में आंदोलन आगत का,
यह अद्भुत श्रमदान शरद की सुषमा के स्वागत का।

और उधर सुग्रीव सुखी होकर विलास में रत वे,
निद्रित नयन मोह-ममता के मधुर भार से नत थे।

पंपापुर का पानी पारसमणि सा झलक रहा था,
हल्की लहरों से निर्मल जल छविभर छलक रहा था।

उठती भाप आप ही तट से निकट शांति छायी थी,
वारि वीचियों में उद्भासित अद्भुत अरुणाई थी।

स्वेत श्याम रतनार रंग में पल-पल परिवर्तन था,
लगता था हीरे पर नीलम नीलम बना रतन था।

पंकिल पथ पथराए पैरों में भरपूर पकड़ थी,
यह संधान समर की बेला, छाती गयी अकड़ थी।

ऐसे उत्तेजक अवसर पर भी रघुनाथ शिथिल थे,
मुरझाया मुख, सम्मुख यद्यपि रहे सुमन-दल खिल थे।

वर्षा ऋतु के धुले खुले तरु-तृण कुछ मलिन हुए थे,
उधर आर्द्र हो रहे राम के लोचन लोल नलिन थे।

यह बिडंबना और विरोधाभास विचित्र विरल था,
रामानुज के जाग्रत मन को रहा बहुत ही खल था।

भौंहें चढ़ी तनिक मुख तमका चमका तीर फलक था,
और रगों का रुधिर आंख में सहसा उठा छलक था।

अनुशासन ने छुए किन्तु पद आदर और विनय के,
सब विकार बुझ गये लपट से लिपटे धूम्र-वलय के।

हुआ धूप-दीपित मुख-मंडल महकीं प्राण शिराएं,
सकुचे तनिक निहार अकारण अपने दाएं बाएं।

समझ गये श्री राम ज्वार का है उतार पर पानी,
बोले 'अनुज शिशिर ने भी सिर की न पीर पहचानी।

उपकृत सुहृद सुकंठ अकारण ही हमसे फूले हैं,
मद-विह्वल विकलांग राम-सीता को सुधि भूले हैं।'

फिर देखा विश्वास भरे नयनों का डाल उजाला,
छोटे के सामने बड़प्पन का फिर भार संभाला।

और कहा 'लक्ष्मण सुकंठ को जाकर के समझा दो,
अपने ओज-तेज से उनकी उलझी मति सुलझा दो।

कह दो जिससे गया बालि, पथ अब भी बन्द नहीं है,
जहां सिंह पलता सियार रहता स्वच्छंद नहीं है।

हम तो विरह-अग्नि में जलते वह विलास में रत है,
कैसा है सुग्रीव सँभलते ही कर्त्तव्य विरत है?

जाओ अनुज उसे समझा दो कार्य कि जिससे कृत हो,
किष्किधा नगरी के आगे अवधपुरो आदृत हो।

पहले पैर छुए पथ-प्रेरक अग्रज से फिर बोले,
'आप स्वस्थ हों और पंथ भी और पुष्ट कुछ होलें।

सारो वृत्ति बटोर विरह से और समेट भ्रमितमन,
ओज-तेज के अनल बाण से बेधो बधिर तिमिरतन।

ऋष्यमूक पर पंगु मूक बन जो अब तक बैठा था,
किसी तरह से पीठ ठोकने पर रण में पैठा था।

वह कायर कपिराज बना है खाने को अदरख है,
भइया भोले बड़े आपकी होती अजब परख है।

क्रूर कृतघ्न कुटिल कुविचारी परम स्वार्थी द्रोही,
अपना मतलब साध बड़ों के बने सदा विद्रोही।

ऐसों के ही लिये तीर की नोक तेज बनती है,
ऐसों के ही लिये धनुर्ज्या अवसर पर तनती है।

ऐसों के ही लिये बाहु में बल उर में साहस है,
ऐसों के ही लिये बना वध का विधान बरबस है।

ऐसों को उपदेश नहीं आदेश दिया जाता है,
कभी-कभी कल्याण हेतु भी क्लेश दिया जाता है।

छुरी बनाती है रोचक, चलकर रसदार फलों को,
भला न सकता पनप अगर कुछ खलता नहीं खलों को।

सीधे का मुंह रहे चाटते कुत्ते करतब वाले,
कभी न निकला घी जम करके सीधी अँगुली डाले।

उपकारी बन अपकारी को, उदारता दिखलाना,
भइया नागिन के बच्चे को डसना है सिखलाना।

वानर-जाति और अपने ही अग्रज का अपघाती,
समझा था सुग्रीव सुहृद है ज्यों जटायु संपाती।

यह थी भूल सहज ही हम समझे कि सुकंठ सखा है,
अवसर पर के लिये सिरज कर जिसका साथ रखा है।

जिस अधीरता ने अग्रज की बाट न पलभर जोही,
जिस विलास-प्रियता के कारण बना बंधु विद्रोही।

मैं उसको आग्नेय शरों से छिन्न-भिन्न कर दूंगा,
स्वार्थ और परमार्थ समर में भिन्न-भिन्न कर दूंगा।

संकट के साथी को जिसने दिया समय पर धोखा,
नर-वानर दोनों से बाहर है व्यवहार अनोखा।

उसके लिये अवध के आयुध वज्रपात करते हैं,
पौरुष के प्रताप रवि रजनी को प्रभात करते हैं।

दूर धुंधलके में सूरज के तीर छूटते जब हैं,
अपने आप तिमिर के काले कवच टूटते तब हैं।

और लालधारा बह करके विहान रचती है,
सन् सन् कर संधान डोर भी सामगान रचती है।

उषा बजाती बीन, विहानी और अधिक जँचती है,
खिल उठती वीरता निखिल निर्धूम, धूम मचती है।

ऐसे ही उत्साहपूर्ण अवसर उमंग भरते हैं,
पहले से खौलते लहू में नया रंग भरते हैं।

प्रबल पराक्रम के पावक में ओज तेज दहता है,
लाली वहां दौड़ती कल्मष जहां-जहां रहता है।

जिसकी बुद्धि अशुद्ध हो गयी व्यर्थ उसे समझाना,
वानर को उपदेश दिये का है उलटे उकसाना।

जिनकी मति मारी है जड़ता से आवृत चेतन है,
जिनकी गति न्यारी है सबसे अलग ध्येय है धन है।'

रामानुज का कलित-कलेवर कौंधा तेज बढ़ा था,
तरकस से कढ़ तीर चाप पर अपने आप चढ़ा था।

बल्कल-वसन लपट से लिपटे थे ललाट जलता था,
अंतर का आक्रोश ओज पर चिनगारी मलता था।

बांया घुटना टेक, दाहिने पर संधान संभाल,
छाती और उभार पखौरे तान प्रताप उछाले।

अग्रज थे जिस ओर कनखियों से चुपके से देखा,
जैसे बादल पर बिजली की खिंची चमकती रेखा।

वक्र वीरता के बाने में ऊंचे स्वर से बोले,
'भइया मैं तयार हूँ अपना लक्ष्य तीर पर तोले।

जैसे ही संकेत मिले चुटकी से ज्या छूटेगी,
किष्किधा के कपि-समाज की अहंशिला टूटेगी।

रामानुज हूँ अरि-मर्दन की पूरी टेक करुंगा,
रक्त-धार से मैं सुकंठ कुल का अभिषेक करुंगा।'

अनुज कुपित अग्रज आशंकित कपि-पतिमद-विह्वल थे,
अनल, धूम, ईंधन की उपमा से कुछ अद्‌भुत पल थे।

सहज स्वरूप सँभाल स्वस्थ होकर सीता पति बोले,
'बहक गया वानर यदि तो नर तो न नियम से डोले।

अनल-कुंड के बीच मैत्री का पुट जिसका सेंका,
जिसके लिये बालि पर अपना अनुपम आयुध फेंका।

उसका मन यदि सह न सका हो सुख की सहज हिलोरें,
तो बध नहीं चाहिये उसकी बुद्धि तनिक झकझोरें।

बस इतना ही शेष तुम्हारा कोप न यहाँ उचित है,
जागेगा सुग्रीव बालि के प्रण से वह परिचित है।'

धनुष उतार तीर तरकस में धर कर और उछल कर,
फिर कुछ कहा चार डग आगे क्रिष्किधा को चलकर।

मित्र मिला मति-भ्रष्ट राजपद पाकर पुष्ट हुआ है,
बंधु बहुत कुछ दुर्बलता भी थी जो दुष्ट हुआ है।

ऐसा जड़ अकृतज्ञ आपको आज्ञा पाल सकेगा,
जो मिल गया बंधु के बध से राज्य सँभाल सकेगा ?

मुझको है संदेह किन्तु विश्वास आत्म-बल पर है,
अपनी दें आशीष बढ़ेगा पग यदि भूतल पर है।

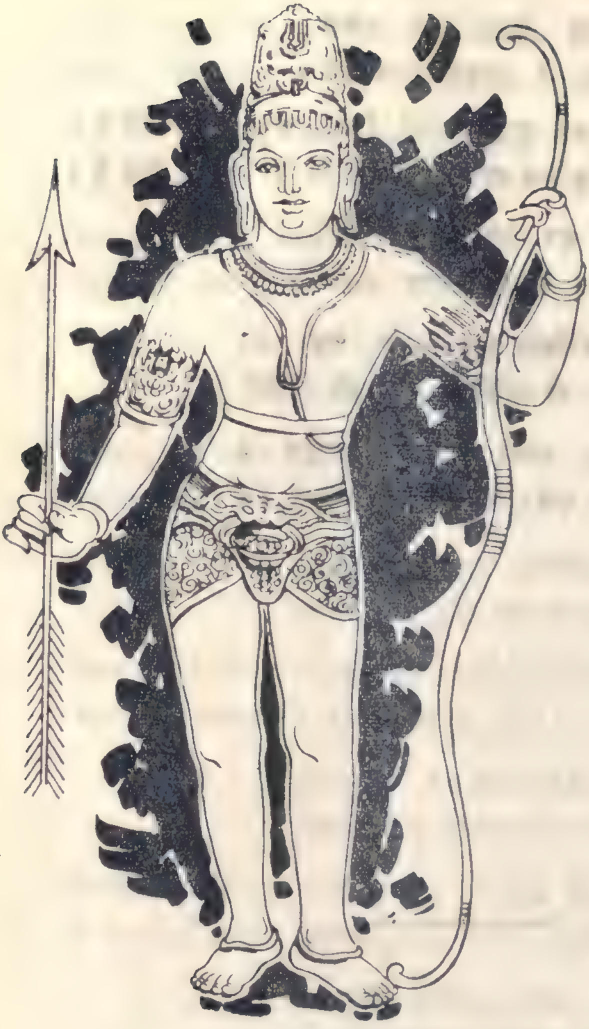
जाता हूँ मैं किष्किधा को आतुर और अकेले,
साहस हो तो वार भीड़ में आकर कोई झेले।

और बढ़े बुदबुदा उठे फिर 'बंधु बड़े सीधे हैं।
किन्तु कुटिल कपि-पति के सिर में जो विकार बींधे हैं।

एक-एक उनका निकाल कर ऐसे भाव भरूंगा,
बने राम का काम आज ऐसा मैं काम करूंगा।

उठ पड़े सौमित्रि मुख छवि देख कर,
राम की। जो ज्योति को थी फेंकती।

जिस तरह उठती लहर उत्ताल है,
पूर्ण शशि मुख देख करके ज्वार बन।



तेइसवाँ सर्ग

वेगवान् आंधी से, झरने से निनादमय गतिमय,
आगे बढ़े सुमित्रानंदन बोले अग्रज की जय।

हिले शिखर तरु थर-थर काँपे खौल उठा पंपासर,
कण-कण आन्दोलन कारी था अणु-अणु अनुकंपा पर।

रामचन्द्र के विरह-वह्नि की आँच लगी थी मन में,
अग्रज ही का था विषाद जो छलक उठा लोचन में।

पैरों में उनकी ही गति थी उनका ही बल भी था,
नीरव नीलाकाश-पटल पर शनि था मंगल भी था।

चेहरे पर आवेश और उर में उद्वेग उदय था,
और ललाट चूमता बनकर विजय-पूर्ण निश्चय था।

बहे प्रवर्षण के प्रवाह से उतर नदी से आए,
जितना आगे बढ़े कि उतना ही विस्तार बढ़ाये।

किष्किंधा के कोट-द्वार पर उगे प्रभाती रवि से,
फिर रण के मंगलाचरण को लगे जोड़ने कवि से।

कानों तक संधान प्रत्यंचा को चुटकी से छोड़ा,
गूंज उठी टंकार हिल गया पर्वत थोड़ा थोड़ा।

जागे थे जो उछल पड़े जो सोये थे सपनाए,
आगे थे जो फिसल पड़े, पीछे जो थे उठ धाए।

सुन करके ज्या-घोष होश कपि सेना के छूटे थे,
धीरज के बंधन, सुनकर संधान-नाद टूटे थे।

कुछ किल् किल् कर बिल से निकले कूदे चढ़े शिखर पर,
वानर, भालू, भगे, पराने नर से डरकर नाहर।

कुछ में ऐसा दुस्साहस था लड़ने को तत्पर थे,
इधर रहे फुफकार धनुष पर चढ़े बाण विषधर थे।

जिनका कुछ उत्साह आक्रमण सुनकर और बढ़ा था,
बच-बच कर लड़ने का, उनके मन पर रंग चढ़ा था।

वे जैसे ही बढ़े कढ़े शर इधर भरे तरकस से,
बस पालतू बन गये वन-चर आए ज्यों सरकस से।

रामानुज पर कोपानल की पूरी चढ़ी चमक थी,
मांस-पेशियां कसी त्वचा में तड़पन और चमक थी।

कसने लगीं नसें बाहों का रुधिर प्रवाह बढ़ा था,
वक्षस्थल अड़ गया उभर कर मुख पर तेज चढ़ा था।

ऐसा लगा कि जैसे सहसा सुना किसी का कहना,
नथुने फूले और पखौरे फड़के लड़के रहना।

आंखों में दहके अंगारे लपट उठी चितवन में,
देखा जिधर अटारी दरकी, आग लगी आंगन में।

जो सामने पड़ा झुलसा था दूर रहा जो चौंका,
सब पर गालिब रोब हुआ था जैसा था जब मौका।

अपने आप कपाट खुल गये द्वार-पाल नत-सिर थे,
किष्किंधा में लगे कौंधने सारे गृह मन्दिर थे।

जैसे दावानल वन में हो बिजली हो बादल में,
वैसे किया प्रवेश सुमित्रा-सुत ने विन्ध्याचल में।

सैनिक-गण थे सन्न समक्ष, आसन्न अगम आगम का,
आफत सी आ गयी कि जैसे द्वार खुल गया यम का।

ठोकर से पाषाण फोड़ते आते इधर-उधर से,
आगे बढ़े सुमित्रानन्दन धनुष फेरते कर से।

स्तब्ध बद्ध वातास और पावस के पल श्यामल-से,
कढ़े बूंद बनकर के अंगद घिरे विपद बादल से।

हाथ जोड़कर झुके तनिक फिर बढ़ करके पग चूमा,
लखन लाल सकपका गये कुछ, हाथ पीठ पर घूमा।

बोले 'वत्स कंदरा में किस कपि-पति जा पैठे हैं,
राम-काज का बीड़ा लेकर निष्क्रिय हो बैठे हैं ?

जिसको दिया समान सुहृद सम्मान, आदि से पूजा,
जिसके जय का नाद हमारे शौर्य-शंख से गूंजा।

जिसके सिंहासन के नीचे लगा राम का कर है,
जिसके सुख-साधन-सुविधा का गया पात्र अब भर है।

गत का फिर कंकाल आज आगत पर नाच रहा है,
बालि गया, मर उसके सिर का भूत कुलांच रहा है।

मैं सुकंठ से राज्यदंड गौरव-गुंबद लेता हूँ,
अंगद मैं स्वर्गस्थ-पिता का पद तुमको देता हूं।,

बेसुध-से बन गये बालि-सुतभय ने फिर उकसाया,
अंतः पुर को ओर बढ़े पग समझ न कोई पाया।

फिर पलटे कुछ और नम्र बन हाथ जोड़कर बोले,
'यह सारी उपत्यका स्वागत द्वार खड़ी है खोले।

आएं तो, कपिराज स्वंय ही मिलने को आतुर हैं,
मेरे साथ गुफामें उतरें वह बजते नूपुर हैं।'

सकुचे कुछ लघु बंधु राम के फिर पीछे लग देखा,
घाटी की पाटी पर सुन्दर खचित स्वर्ण की रेखा।

आगे बढ़े और रचना के फूल जहां फूले थे,
किष्किंघा के भ्रमर भ्रमित थे जिन पर सब भूले थे।

बजते कहीं मृदंग संग में देता ताल मजीरा,
कहीं ढालतीं मधु वानरियां झुक-झुक गति गंभोरा।

कहीं लुढ़कते शिरस्त्राण तो कहीं तीर बिखरे थे,
वानर-योद्धा मस्त नशे में सुध-बुध सब बिसरे थे।

सबकी आंखें लाल पैर डगमग मस्तिष्क विकृत थे,
नस-नस में सनसनी और हर अंग-अंग झंकृत थे।

रामानुज रुक गये सोचने लगे दृश्य भी क्या है,
तन के तंतु तने हैं जैसे तनी धनुष पर ज्या है।

विरह-विषाद कहां अग्रज की तपोपूत कृश काया,
और कहां विगलित विलास यह पान-भूमि की माया ?

दोनों में क्या मेल एक पंकज तो पंक अपर है,
इधर आत्म-बल का प्रताप, भौतिक आतंक उधर है।

असहनीय था आयोजन यह तपोपूत तन मन को,
लगता था सब व्यंग सरीखा रास-रंग लक्ष्मण को।

भौंहें तनी तनिक कुछ-कुछ तो माथे पर भी बल था,
और लाल बन गया अंधेरा पाकर मुख मंडल था।

अंतःपुर की ओर बढ़े अंततः सुमित्रानन्दन,
कटि-किंकिण नुपुर-शिंजन से हुआ मदिर अभिनन्दन।

तपती तरुणाई के आगे रमणीया रमणी थी,
जैसे प्रबल ज्वार पर चढ़ती तरणीया तरणी थी।

सूरज को उगते ही जैसे दिखे भोर का तारा,
करने पर प्रयाण रण-पथ पर, मिले वीर्यहत हारा।

रघुकुल के चरित्र-चित्रण-सा पड़ा भौंह पर बल था,
ओज-तेज की किरणें मूंदी महिला-दल बादल था।

आंख मूंदकर बैठ गये चुपचाप अस्तमित रवि से,
कविता करने लगे गणित को देख मनचले कवि से।

इसी बीच अंगद ने अन्दर जाकर खबर जनाई,
'उठो पिता जी रुष्ट खड़े हैं द्वार राम के भाई।

प्रथम-पिता के वध के शोणित से सायक साने हैं,
वैसे ही दुर्द्धर्ष, धनुष भी वैसे ही ताने हैं।'

अंगद के उद्‌गार प्रकृत प्रकटे प्रभावशाली बन,
लक्ष्मण के आतंक रेणु कण उड़े किरण माली वन।

आंखें खुलीं हरीश हड़बड़ा उठे और फिर बोले,
पहले कपि सुन्दरी भेज दो कोई मधुरस घोले।

अपने हाव भाव से पोंछे गति में लगे गरल को,
चंचल चुप चकोर नयनों से पीते अनल तरल को।

आयी मद मंथरा नचाते निद्रित नयन नशीले,
सरस ज्योति से हुए सुशोभित मन नभ नीले नीले।

'प्रिये, कहा वानराधीश ने 'सम्मुख रवि के जाओ,
उगती आतप की किरणों पर तुम तुषार बन छाओ।'

समझ गयी संकेत चल पड़ी चपल वानरी वाला,
रामानुज का उधर तेज कुछ ठिठका बैठा ठाला।

आते ही तारा ने अपने तिरछे नयन तरेरे,
जिससे अब तक सधे तपस्वी बहक गये बहु तेरे।

बोली 'क्यों श्रीमान् कुपित हैं अपनों से ऊबे हैं,
इतना क्यों तिलमिला उठे हैं क्या क्या मंसूबे हैं?

अन्दर चलें अधर मधुरस से शीतल करें सिझाएं,
चितवनि की चिनगियां घोलकर मदिरा में पी जाएं।

किन्तु कह गयी मैं भी जाने क्या मुझमें व्यापा है,
अपने गन्दे पैमाने से गंगा-जल नापा है।

अनाहूत अंतःपुर में आए न यहाँ बैठे हैं,
परेशान होकर कुंजर से कीचड़ में पैठे हैं।

यह दृढ़ता चरित्र की ऐसी शुभ्र-वासना मन की,
सबसे दुर्लभ वस्तु जगत के कामातुर जीवन की।

यह संकोच आचरण उत्तम शील और संयम यह,
वरता करता है बिरला ही नर वर नीति नियम यह।

सोने सा तपकर निखरा है तेज, तुम्हारे तप का,
बलि से बल खाता बलता है अंतर्बल आतप का।

कौन तुम्हें कल्मष छू सकता नयन लुभा सकते हैं,
और कौन कामना बान संधान चुभा सकते हैं?

तो फिर चलें चन्द्रमा से मधुमय मद चीर जलद का,
मेरा चिर अहिवात करें आगम राखें अंगद का।

उठे सलज्ज सरोष सुमित्रा-संभव नयन झुके थे,
चढ़े धनुष पर तीर चमक कर अपने आप रुके थे।

बोले परुष 'कापुरुष है वह जो कृतघ्न कपटी है,
राम काज तज साज-बाज में उलझ बुद्धि पलटी है।

जाओ कह दो दशरथ के कुल ने यह प्रथा चलायी,
बड़ा बड़े को मारेगा छोटे को छोटा भाई।'

कांपी कपि कामिनी तनिक फिर और तनक कर बोली,
'तुम तपसी क्या समझ सकोगे काम केलि की बोली?

बड़े बड़े विश्वामित्री तप ऋषि मुनि ज्ञानी पंडित,
फिसल पड़े मुंह के बल हो, सौन्दर्य शिला से खंडित।

नारी के निरभ्र मुख शशि ने किनके नयन न सींचें,
किसने देखा नहीं आंख भर आप जहां दृग-मींचें।

यह विहार व्यवहार विषय का पर के लिये नहीं है,
वानर की आचार संहिता नर के लिये नहीं है।

तन मन के कठोर धन्वी तन्वी से मुंह मोड़े हैं,
आप समर्थ सांस तक अपनी योगी बन छोड़े हैं।

लेकिन जो उजला ही उजला फाहे-सा फैला है,
वह ऊपर ही ऊपर उड़ता मिलता मट मैला है।

पानी के पावन प्लावन को पाहन पकड़ न पाये,
आसमान ने फेंके छीटे धरती ने अपनाए।

आप गुणज्ञ ज्ञान के निधि हैं शोभा के सागर हैं,
नियम बद्ध निर्विषय निरापद नीति-निपुण नागर है।

हम गुणहीन मलीन जंगली जड़ हैं और जटिल हैं,
वनचर, विकृत विचार हमारे कुत्सित और कुटिल हैं।

ऊंचे आप और हम नीचे बड़े आप हम छोटे,
दोनों में समानता ही क्या है? खरे आप हम खोटे।

पर आंधी तिनके बटोरती है तब हहराती है,
वेगवान के साथ धूलि भी लगती लहराती है।

पाओगे पहाड़ पर अकड़े पड़े कहीं कंकड़ भी,
पानी के निर्मल से तल में पलता है कीचड़ भी।

जो ऊंचा है गहरा है पर्वत है या सागर है,
वह कंकड़ी और कौड़ी का, भी तो सौदागर है।

बड़े न कभी छोड़ते जो छोटे हैं भले छली हैं,
असली के बल पर ही चलते सिक्के जो नकली हैं।

उसमें क्या आश्चर्य आप यदि संभले और भले हैं,
क्योंकि बड़प्पन के सांचे में ढुलके और ढले हैं।

लेकिन जिनकी बान बनैली है मति भी मैली है,
जोखिम में जीवन-यापन की शंकाप्रद शैली है।

वे शाश्वत सिद्धांत सनातन धर्म-कर्म क्या जानें?
मर्कट बस कूड़ा-करकट हैं यह भी सही न मानें।

अंतर में अनुराग वही है किन्तु बुद्धि चंचल है,
डाल-डाल पर हर उछाल, पग जाता कभी फिसल है।

पर अपने ओछे भी अच्छे हैं सुधरे औरों से,
साधारण सी सृष्टि, न चलती दुनिया सिर मौरों से।

ले चलते गुणवान साथ में अपने गुण हीनों को,
जैसे लहरें साथ लिये चलती हैं लव लीनों को।

माटी लगती नहीं हाथ में, तब तक बीज न जमते,
महा-भाग ! रचना पटु के कर कोरे कहीं न रमते।

रंग और रस, पंक और पानी-पन मिला-जुला है,
मलिन स्वच्छ दोनों का जीवन. दर्शन द्वार खुला है।

जिसका जिसमें हो प्रवेश वह उसके लिये बना है,
उपयोगी जो हमें आपके लिये विधान मना है।

मुस्कानों में व्यंग नयन में रूप रंग की छाया,
तारा ने कुछ देर सुमित्रानन्दन को फुसलाया।

फिर बोली 'रुक गये देखकर महिला दल का मेला,
अंतःपुर की मर्यादा की हुई न यों अवहेला।

अपना कोप-कपाट बन्दकर बाहर बढ़ आए हैं,
परम पवित्र चरित्र शिखर पर चमके चढ़ आए हैं।

जो अविजेय अडिग अंकुशधर अविकल अविकारी है,
वही पुरुष अंतःपुर को सुषमा का अधिकारी है।

आँख नचा कह गयी वानरी 'आए तो स्वागत है,
सुहृद सुकंट सब तरह अपना, समझो शरणागत है।'

कुछ शीतल हो गया शिशिर की संध्या-सा आनन था,
विन्ध्य विनत कुसुमित किष्किधा पुलक उठा कानन था।

ओज-तेज के अंगारों की लपटें लीन हुई थीं,
रामानुज की कसी भुजाएं इच्छाधीन हुई थीं।

तब तक तारा ने आलोकित होकर पथ दिखलाया।
गहन-गुफा में जाने को लक्ष्मण ने पाँव बढ़ाया।

सहसा पड़े सुकंठ सामने बाहु-पाश में बंदी,
रुमा, सुरा मधु ढाल बनी थी कान्हा की कालिन्दी।

बर्जित-स्थल पर भी गर्जित स्वर सुन सुकंठ सहमा था,
सहसा खड़े समक्ष लक्ष्मण थे सब रक्त जमा था।

उठा अचानक देख, कलश को फेंक पलँग के नीचे,
माला तोड़ खिसकती धोती को हाथों से खींचे।

अंतःपुर में देख अनधिकृत को न कपीश कुपित था,
मुँदी हुई पलकें खोली जब देखा ओज उदित था।

'जो सामने नहीं दिखता है दूर-दृष्टि तो क्या है,
पानी मरा अगर आंखो का व्योम वृष्टि तो क्या है ?

उपकारी के हो कृतघ्न भाई के शत्रु प्रवल हो,
किष्किंधा के कीर्ति-कलश में आप शाप के जल हो।'

पलकों में पावक परची थी अलकों में आंधी थी,
मिट्टी को सारी नश्वरता मुट्ठी में बांधी थी।

मुख-मंडल देदीप्यमान था, अधर फड़क उठते थे,
भुज-बंधन भी रह-रह कसते और कड़क उठते थे।

ऊर्ध्व सर्प-सी सांस छोड़ते बल खा बहल रहे थे,
रामानुज अंतःपुर में आकुल हो टहल रहे थे।

और सुकंठ अचल पाहन-सा बांये हाथ खड़ा था,
इधर यहां भूचाल उधर भूगोल उठा, उखड़ा था।

यह असमंजस और अनिश्चय आग्नेय आगम था,
तारा का आलोक उदय हो उठा जिसे हित तम था।

बोली अधर-पुटों में घोले मधुमय हास विलासी,
सबला-सी बन गयी तनक जो थी अब तक अबला सी।

'कहो कुंवर जी क्यों क्रोधित हैं क्या अपराध हमारा,
मिल न सके तो समझ लिया जैसे दायित्व बिसारा।

वानर-पति ने दूर-दूर तक दूत भेज रक्खा है,
सीता की सुधि के साधन सारे सहेज रक्खा है।

सर्वविदित है आप तपस्वी साधक सिर ताजा हैं,
इनको भी रस लेने दें जो हम सबके राजा हैं।'

लज्जित हुआ उपकृत था ही अंजलि-बद्ध बढ़ा था,
जैसे झंकृत वीणा का स्वर हो सन्नद्ध कढ़ा था।

लाल लोचनों से उछालकर अंतर के अंगारे,
कहा लक्ष्मण ने 'राजा हो रस लो राम सहारे।

पलभर की यह पुलक, पलक मूंदे हो मुंह खोले हो,
मधु-निधि का रोचक संगम है विष में रस घोले हो।

अच्छी रही दोस्ती यह बेसुध वारुणी पिये हो,
उन्हें भुला बैठे हो जग में जिनके लिये जिये हो।

अब तक वालि-बली के मुष्टिक से गर्दा झड़ जाता,
अलसाए अधखुले दृष्टि-पथ पर पर्दा पड़ जाता।

भइया के भोले पन की जय माल गले में डाली,
पीठ दिखाकर आए थे अब गरज बने बलशाली।

विगत बन्धु के वध का लेकर व्याज बने राजा ही,
बालि मरण का नहीं चाहता हूँ कि स्मरण हो ताजा हो।

बड़े, बन्धु ने मुझें यही आदेश दिया है सुन लो,
जीना, मरना साथ हाथ में चाहे जिसको चुन लो।

जिस पथ से है गया गुजर कर बालि न बन्द हुआ है,
और न आनन ही अमोघ आयुध का मन्द हुआ है।

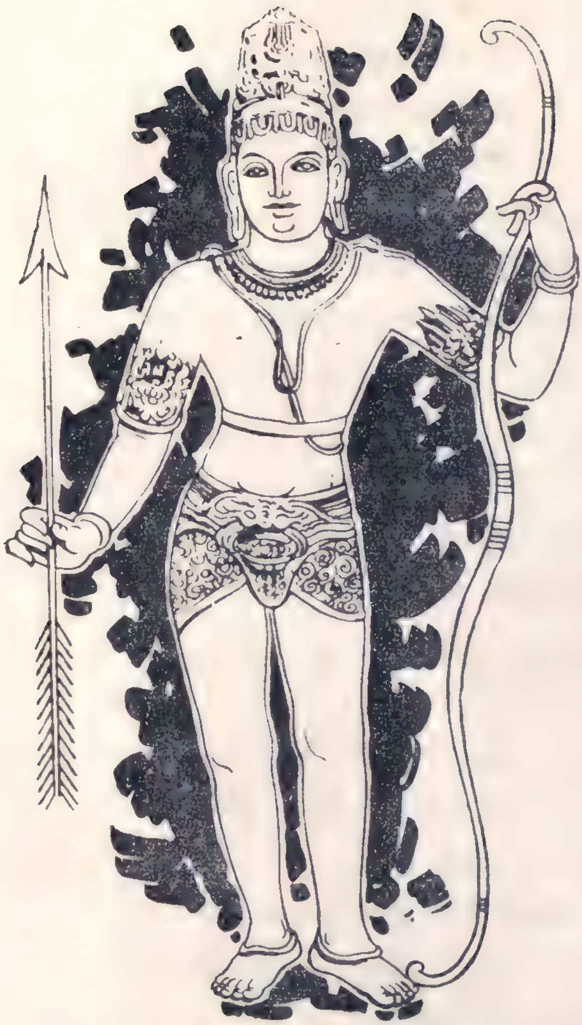
नेता बन कर भी तुम अपनी रीति नीति भूले हो,
मतलब था मुँह ताक रहे थे निकल गया फूले हो।

कपि-कुल-पति ही पतित,अलग उन्नति क्या पड़े दिखायी,
अग्रज अगर गिरा हो कैसे उठ सकते अनुयायी?

मद्यपान से मति बौराई बन महीप माते हो,
ऐसा मिला विराम, राम के काम नहीं आते हो?'

राम के लघु-बंधु की थी दुंदुभी ऐसी बजी,
कान सुन सुग्रीव के जिसको खड़े हो खुल गये,

वानरों के दल चले आसिंधु क्षिति को छानते,
और सीता के पताके पल–अतुल थे तुल गये॥



चौबीसवां सर्ग

मारुत-सुत सागर मंथन कर पहुँचे लंकापुर में,
सजी बाहिनी बजी विहानी काली के नूपुर में।

कूदा हो कल्पांत यथा आग्नेय-वृत्त आगत में,
अथवा क्रांति-किरण फूटी सीता की शांति विनत में।

रावण का आतंक लंक के साथ जला पल भर में,
राम प्रताप दिवाकर दमका, भारत-भूतल भर में।

दैत्यावली दर्प-हन बन वजरंग-बली दुखिया के,
रावण पुरी दहन कर पहुँचे स्वयं समक्ष सिया के।

हनूमान ने कहा 'मातु जानकी संदेशा क्या है,
मैं जाता उस पार पुनः अब और अँदेशा क्या है?

दीजे कोई चिह्न कि जिससे हो प्रतीति प्रभु मन को,
और देखिये कल ही आएं फिर हम शत्रु-हनन को।'

बोली बनी बंदिनी रिपु की, जनक-नंदिनी 'जाओ,
और आर्य को अभिज्ञान में चूड़ामणि दिखलाओ।

किन्तु कपीश नमन चरणों पर कहना है सीता का,
शेष भावना-हीन हृदय है भामिनि भय-भीता का।

उसमें एक कसक बाकी है नन्हें से जल कण सी,
जिसमें जब-तब कौंध बरसती मेघ छटा लक्ष्मण सी।

कौन घड़ी चौकड़ी मार करके मारीच चला था,
पंचवटी में हेम-हिरण बन करके जो उछला था।

लगता है पिछला-पातक पलकों को बोर रहा है,
अश्रुधार में मलिन काम-हत हृदय हिलोर रहा है।

जिसने मेरी दृष्टि चुरा ली मति मोहित कर डाली,
शांति-साधना की लकीर उजली, लोहित कर डाली।

कहना उन देवर से जिनकी ज्योतिर्मयी जवानी,
मेरे लिये मिल गयी मिट्टी में पानी से सानी।

प्रश्न-चिह्न में उलझ गया जब उत्तर सीधा-सीधा,
तिरस्कार के स्वर-शर मारे अकलुष उर को बींधा।

मायावी मारीच बीच में बनी स्वयं मैं माया,
हरी चोर ने संपति सारी, प्रहरी गया सताया।

जिसने अपना सुख खहेज कर सौंप दिया अग्रज को,
रत्न और रस भोग छोड़कर लगा रमाने रज को।

कामिनियों के सधे निशाने मुस्कानों से मोड़े,
रूप-शिखा के पीछे अपने अंग-पतंग न छोड़े।

नियमन का लावण्य न कोई पोंछ सका आनन से,
आंगन से घिर मुंदी मनुजता, उधरी तो कानन से।

पड़ जिसके आग्नेय-ओज में विफल वासना झुलसी,
तप्त-तेज में लगी मोम-सी गयी मलिनता धुल सी।

चकाचौंध में लगी देखने रति भी दाएं-बाएं,
पर जिसके ज्योतिर्ललाट की पढ़ न सकी रेखाएं।

उर से मिला उर्मिला छोड़ी देख-समझ दृग मूंदे,
क्या मजाल छवि की छिगुनी से पल भर कोई छू दे।

तक्षक-सा फुफकार जाग पड़ता यौवन तत्क्षण है,
शांति-साधना पर संयम का कैसा संरक्षण है?

ऐसे साधु तपस्वी तक पर मैंने कीच उलीची,
खुली न गरिमा की गठरी तो गांठ पकड़कर खींची।

वीर-बाहु सद्बुद्धि बृहस्पति-सी जो सिंह सरीखे,
शत्रु-शमन की बान विपिन में खेल-खेल में सीखे।

वृषभस्कंध विकसित वक्षस्थल आंखों में अंगारे,
अधरों पर मुस्कान, मोद के मन में जड़े सितारे।

अग्रज की आज्ञा के पालक दृढ़ अनुशासन-वादी,
सुख से मुंह को मोड़ बन गये संकट के संवादी।

कोमल-वृत्ति परुष प्रण पालन प्रिय दर्शन मन पावन,
स्वर-लय-शुद्ध संस्कृत-भाषण, मौन अधिक मन भावन।

प्रतिभावान पराक्रम शाली धैर्यशील श्री युत हैं,
देवर मेरे पुत्र प्रथम, पश्चात मात के सुत हैं।

हम दोनों कर दुखी पिता को सास ससुर माता को,
अपनी टेक लिये सँग लाए देवर को भ्राता को।

पर व्यवहार-कुशल रघुवंशी क्यों न बली बन जाए,
मात-पिता दोनों को करके जो प्रसन्न वन आए।

दीपशिखा-सा जलता यौवन छोड़ अंध तम माया,
ऐसा चन्द्र-वदन दिन पीकर रात सजाने आया।

भाई क्या प्रतिबिंब सदृश जो लगा संग जंगल में,
देवर क्या देवता सरीखा संस्थित जन-मंगल में।

रक्षक बनकर ओज-तेज की तीखी किरणें डाली,
सेवक बन कर पंथ-व्यथा में सुख की घड़ी सँभाली।
धनुष बाण असिचर्म चमत्कृत बरछी और भुजाली,
कुश-साथरी सहित सिरजो है खुरपी और कुदाली।

जितना उद्धत है उतना ही उल्टा उद्योगी भी,
विकट लड़ैता लाल लखन तो कठिन कर्मयोगी भी।
दिन-दिन भरमें वन-वन भटके रात-रात भर जागे,
आतुर अनुचर आत्म-समर्पण में है आगे आगे।

हम तप को निकले हैं सच है तपता तो बस रवि है,
देवर है देदीप्यमान् दिनमान क्रांति का कवि है।
ऐसे निर्मल जल में धोया मैंने मन मटमैला,
सदाचार को परख न पायी बना विचार बनैला।

मैंने सूरज पर प्रमाद में कटु कुपथ्य को थूका,
मलयानिल को मलिन बनाने वाला कौन न चूका?
गंगाजल में मिली वारुणी पावनता भी माती,
आया कुछ ऐसा विचार था उस दिन उल्कापाती।

अपनी छाया को छल समझा असल बन गया नकली,
कंचन मृग ने दिखा प्रलोभन दृष्टि इस तरह बदली।
जिसमें भासित हुआ भोर का भानु ओस के कण-सा,
मति पलटी, बन गया लफंगा वीरव्रती लक्ष्मण सा।

अब अपना ही पाप आप मैं वहन न कर पाती हूँ,
प्रायश्चित से दग्ध प्राण लेकर के पछताती हूँ।
मैंने भी निरभ्र नभ-तल पर मारे गंदे छीटे,
अगल-बगल की लहरों से लगकर तूफान घसीटे।

अभिनय किया घोर अविनय से था दुर्भाग्य नटी का,
अपनी उँगली से ही अंकित कर कलंक का टीका।
पिता और माता से बढ़कर जिसने हमको जाना,
उसका भी मन वेध कस गयी कुटिल कसैला ताना।

चढ़ते धनुष झुकाते सब हैं, मुझको भी भाया था,
सतरंगी पिनाक सुरपति का किन्तु न उठ पाया था।

उस दिन गिन गिन मारे घूसे मैंने नभ-मंडल पर;
तूफानों में तिनके छोड़े थोड़े बदल बदल कर।

मैंने उस दिन मूक हिमालय पर मिट्टी डाली थी,
उगती किरण सुबह की शुबहे से कर दी काली थी।

अपने मन के अंधकार से चली बुझाने रवि को,
काक-कुवृत्ति कुरेद गिराया हवन-कुंड की हवि को।

कहना जाकर के कपीश रघुकुल के राज-कुंवर से,
प्रायश्चित से सुलग रही भाभो भीतर-भीतर से।

कार्य-कुशल कनकाभ कलेवर तप सुतप्त प्रतिभा है,
बिब-बिब से बीन कांति-कण विकसित हुई विभा है।

स्वामी की सुधि में कपीश प्राणों में बल पड़ते हैं,
तो देवर के स्मृति-कण क्षण-क्षण मन में जल पड़ते हैं।

किसे सहेजूं किसे भुला दूं दोनों ही अपने हैं,
पूजा और प्रसून एक होकर भी विलग बने हैं।

कहने लायक नहीं जीभ है किन्तु कहे देती हूँ,
गोपनीयता के उड़ते अग्राह्य गहे देती हूं।

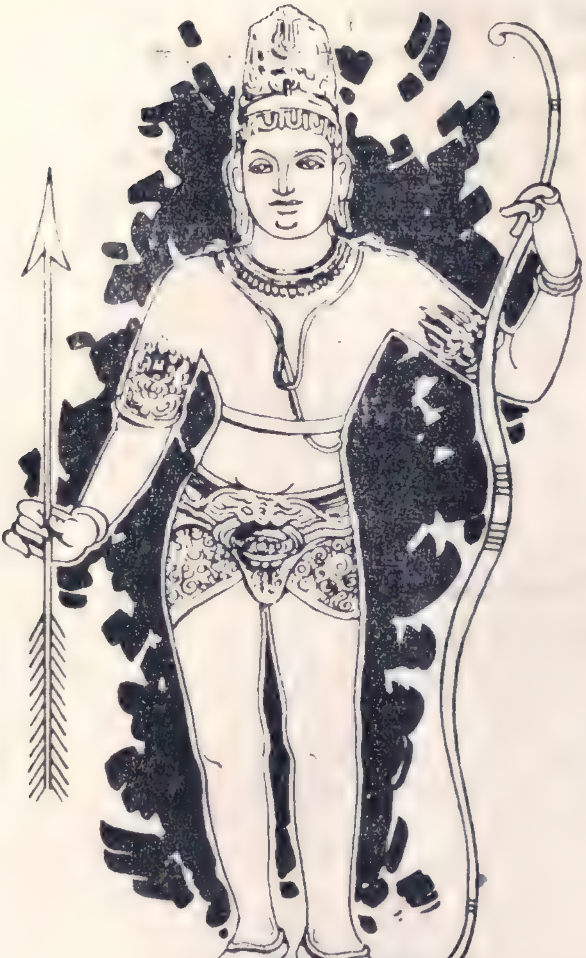
प्राणनाथ का प्रण-प्रधान आदर्श भक्ति देता है,
लेकिन मन को लक्ष्मण का संघर्ष शक्ति देता है।

शक्ति-हीन भावना, भक्ति भी निराधार निष्क्रिय है,
इसी लिये संकट में देवर को दुलारना प्रिय है।

कहना जाकर किया भूल जो उसको भोगा भी है,
सीता यह भी सत्य कि ऐसे लक्ष्मण की भाभी है।

जिनके स्मरण-मात्र से ही गात्र कौंध जाता,
चकाचौंध होती जब, नाम कढ़ता है कभी,
तपोपूत काया में समाया जो समुद्र वेग,
आरती उतारता है चांद, चढ़ता है कभी।

जिनके प्रताप के प्रभात का प्रकाश-अंश,
ध्वंश करता है तो भी सृष्टि गढ़ता है कभी,
कहना कपीश शुभाशीस उनको कि जिन्हें,
ग्रंथ मान पंथ-भ्रान्त प्रात पढ़ता है कभी ॥



पच्चीसवां सर्ग

अम्बर सागर ताल मेल कर पलक पटल घेरे थे,
दिवानाथ भी दिवा वंश के दुख से मुख फेरे थे।

जीमूतावृत ज्योति कलाधर, ऊपर आभासित थे,
इधर तरंगालोड़ित तट से रामचन्द्र शासित थे।

नीला नत निःसीम निविड़ नभ सीमा चूम रहा था,
हो करके उत्ताल सिंधुतल आकुल घूम रहा था।

अपनी अपनी परिधि पकड़ कर दोनों ऊब रहे थे,
अपना अपना छोर क्षितिज में लयकर डूब रहे थे।

उठती थीं उत्ताल तरंगें बादल मँडराते थे,
तूफानों के वेग बीच में व्याकुल बल खाते थे।

राम देखते थे दोनों को बरबस बारी बारी,
एक अपरिमित अवलोकनि में, अपर स्वाद में खारी।

आगे थी अगम्यता पीछे आतुर अनुयायी थे,
और बीच में खड़े नमितलोचन छोटे भाई थे।

जैसे अस्थिरता के आगे आकर स्थैर्य खड़ा हो,
या अधीरता को हाथों से पकड़े धैर्य खड़ा हो।

बोले राम 'विरह ज्वाला से झुलस रहा तन मन है,
आगे अंबुधि का अपार आप्लावित आलोड़न है।

मन कहता है तरल तरंगों में मिल ताप बुझाऊं,
अनुज पयोदधि के प्रसार में पहुंच आप सो जाऊं।

मोह सृष्टि की दृष्टि हुई अनुकूल बली रावण को,
मैं मनु-सा मन मार देखता अपलक जल प्लावन को।

कब तक यह असहाय अवस्था आत्म प्रवंचनशीला,
मैं देखता रहूं दारुण यह देव दनुज की लीला।

अब तो लहरों की उछाल को छू सहलाना होगा,
वानर, भालु, वारि वारिद सबको बहलाना होगा।

सबको अपनी ओर खींचकर के तब बढ़ना होगा,
पृथ्वीतल, पाताल नाप पर्वत पर चढ़ना होगा।

पहले मैं अपनी सारी साधना सदाशय सेकर,
जल का वेग कदाचित् लूंगा जीत जलाशय में भर।

अर्पित कर दूं खारे जल को, मधुर पक्ष जीवन का,
यह भी स्वाद बदल दे शायद रस ले मीठेपन का।

आत्मशक्ति को अंतर्हित कर अनुनय और विनय में,
स्वाभिमान का शीश झुकाकर पाद-पद्म-परिचय में।'

लेट गए पूरब को मुंह कर राम पेट के बल थे,
गगन गिरा धरती पर सारे तारे गए निकल थे।

केवल नील निशान चोट खाए आकाश-पटल का,
अंधकार सा औंध पड़ा था भार ढके भूतल का।

राघव को आभास हुआ अभिलाष कुंड सब रीते,
बिनती से दंभी पयोधि के व्यर्थ तीन दिन बीते।

पड़े दंडवत सागर तट पर मंत्र जाप करते थे,
कभी विहँसते, कभी विकल होकर विलाप करते थे।

टकराते तूफान थपेड़े मार नाग के फन से,
लहरें आकर पोंछ लिया करती थीं रेत बदन से।

रात अंधेरे में कटती थी, आराधन की अति थी,
दिन ढलता देखते देखते ही ऐसी दुर्गति थी।

धनुष अनुज की ओर शिथिल हो पड़ा निहार रहा था,
तरकस लुढ़का अलग तीर का पानी मार रहा था।

रामानुज बैठे वीरासन में बल जोड़ रहे थे,
मन की उठा उमंगे लहरों से ले होड़ रहे थे।

सोच रहे थे मीन मक्र से भरे पयोदधि का बल,
क्या इतना है पावन जितना है पवित्र गंगा जल ?

अग्रज का औदार्य ओज आत्माभिमान के आगे,
सागर धोए धूप हिमालय रात रात भर जागे।

निविड़ निशा में दिशा ज्ञान की दीप शिखाएं जलतीं,
पंकज की पांखें अंगारों को छू आँखें मलतीं।

जिनके इंगित पर हिलते भूगोल खगोल खिसकते,
वे ही भरते सांस सिंधु-तट पर हैं खड़े सिसकते।

जिनकी नेत्र ज्योति में युग का है जागरण समाया,
उनकी पलकें झुकीं अंधेरे में न समझ में आया।

अकुला करके इसी समय उठ पड़े उधर रघुराई,
नयन तरेर देर तक देखा सहसा भृकुटि चढ़ाई।

समझ गए सौमित्रि पीठ पर तरकस कसकर बांधा,
अग्रज को दे धनुष शरासन स्वयं साथ में साधा।

बोले रोष भरे रघुनन्दन ब्रह्म बाण को ताने,
'गए तीन दिन बीत मुझी को झंडे पड़े झुकाने।

नभ-चुंबी उत्ताल तरंगे अब तक तनी खड़ी हैं,
मैं छोटा हो गया बहुत बाधाएं हुई बड़ी हैं।

यंत्र मंत्र से काम न निकला ओज तेज सीझा है,
अनुज कौन काननचारी के क्रंदन पर रीझा है?

जब तक तीर नहीं चढ़ पाता है कमान ढीली है,
आग न लगती है चुटकी में और, पकड़ गीली है।

तब तक उनकी आंख न खुलती जो दिन में सोए हैं,
घेरे में घमंड के अपने उलझे हैं, खोए हैं।

मैं अब कर्म कार्मुक अपना लो संधान रहा हूँ,
अनुज संतरणशील जलधि पर कर अभियान रहा हूँ।

सन्नाटे की सांस न चलती मरा हुआ मौसम था,
महानाश का पाश खोलकर बाट जोहता यम था।

लहरों पर जल राशि,राशि जल पर लहरों का गिरना,
धरती पर आकाश और घनघोर घटा का घिरना।

देख रहे थे अनुज कि अग्रज का प्रताप लहका है,
जिस पर पड़ी राख थी वह अंगार आप दहका है।

तूफानों के तने तमाचे उखड़े पैर हवा के,
बालू के ढूहों ने रोके झोंके तपे तवा के।

तिनकों में आंधी बांधी है बँधा बूंद से नद है,
आश्रित है युगांत पल छिन का मिला प्रलय का पद है।

खींचा धनुष राम ने बाँई आंख तनिक मूंदी थी,
डोरी तनी धनुष की सीमा चुटकी ने छू दी थी।

भौहें चढ़ी माथ के बल पर अति ने ली अँगड़ाई,
लगा कि मर्यादापुरुषोत्तम ने अब मर्याद मिटाई।

सागर की हिलकोर छोर छूने लग गई गगन की,
बुझते सूरज पर छाया थी उर्मिल अवगुंठन की।

नीला नभ, नीला सागर तल नीला क्षिति मंडल था,
पल भर को नीलाभ हो गया सारा दिक् मंडल था।

ह्वेल, सूंस, घड़ियाल नाक से लगे छोड़ने पानी,
मीन मक्र नाचते चक्रवत् जलधि-योनि अकुलानी।

रामानुज की आंख आग से अब तक जो अरुणा थी,
बदल गयी, बह चली विभा के बिंदु बीन करुणा थी।

उठे कि जैसे अंकुर उठ बढ़ता है और उमस में,
अविचल थे उद्‌भ्रांत हो गए अद्‌भुत असमंजस में।

बाघंबर खस पड़ा पखौरे से खिसका तरकस था,
बायां पैर उठा तो दायां गया और भी धँस था।

माथे पर त्रिपुंड की शोभा सकुच हुई श्यामल थी,
छिटक पड़ी किरणों सी खुलकर जटाघटा पिंगल थी।

वल्कल वसन विलंबित लय से लहरा उठे वदन पर,
मचल पड़े मृगचर्म चरमरा उठे ग्रंथि बंधन पर।

दायां हाथ बढ़ाकर पकड़ा चढ़ा धनुष अग्रज का,
जल थल हिला, दर्प दहला दशरथ, दिलीप, रघु, अज का।

ओज-तेज पर आरोपित अवरोध विनय अनुनय का,
बिजली से कट गया कार्य वारिद के व्योम विजय का।

रोष भरी मुद्रा पर मुद्रित स्नेहमयी चितवनि थी,
महाकाल के फण पर चमकी जैसे चिंतामणि थी।

नयन अनुज के निर्मल निरखा किए बंधु के बल को,
जैसे जल मापक पट पढ़ता बढ़ते जल के तल को।

निर्विकार निरपेक्ष-दृष्टि के आगे था अंगारा,
अग्रज का नप रहा उग्र आकार अनुज के द्वारा।

ऐसे विकट व्यतिक्रम में फँस गया सृष्टि का क्रम था,
सर्जन और विसर्जन दोनों को दोनों का भ्रम था।

'भइया ऐसा मत करिए, यह जलधि जटिल है, जड़ है,
हवा और पानी से कोई कब तक सकता लड़ है?

वह बल कहां कि जिसके बूते पर शिव धनुष चढ़ा था,
फूंक मारते ही तरकस से बिनफर बाण कढ़ा था ?

जिसके स्पर्श-मात्र से उड़ते पर्वत उथल पुथल में,
और नीच मारीच पार कर गया पयोदधि पल में ?

ऐसे आयुध हैं अमोघ उनका संधान सधा है,
तो समझो सागर पर रामेश्वर का सेतु बँधा है।

और भी उपाय हैं नदीश के सँभालने को,
आप ही उतावले हैं व्यर्थ, धैर्य धारिए।

अधिक अधीर आप सिंधु से हैं सोचिए तो,
अधिक गँभीर आप, हिम्मत न हारिए॥

सामने से आके वक्ष रोप लक्ष्यरोध लिया,
और गहा हाथ कहा 'धनुष उतारिए।

बोले लघु बंधु 'देखने को ना मिलेगा रक्त,
नीर है शरीर नहीं, तीर नहीं मारिए॥

जड़ चेतन के बीच ग्रंथि है, मैत्री का बंधन है,
जुड़े ज्योति-कण जैसे अणु-अणु का भी अनुबंधन है।

यह समुद्र है क्षुद्र आप मर्यादा पुरुषोत्तम हैं,
सबकी वृत्ति नियति निर्धारित, सबके बने नियम हैं।

एक नदी-पति के प्रमाद को अन्य जीव क्यों ढोएं,
एक करे अपराध बारि में क्यों सब विश्व विलोएं ?

यह कैसी अनरीति आपके अस्त्र अकारथ जाएं,
बल पौरुष के तरकस रीतें लेकिन लाभ न पाएं।

अग्रज का आवेश आप से ही ऐसा रुठा है,
अंतर मन्थन के अमत का उठा झाग झूठा है।

आंखों के अंगार रोशनी अपनी फेंक न पाएं,
यज्ञ-कुंड को ज्योति दान कर सकें न, धुआं उठाएं।

गरम खोलते हुए खून की गति जो गयी उछाली,
क्या वीरता विफल विक्रम से अगर पड़ गयी काली ?

हम बनकर विक्रान्त दशानन को दलने आए हैं,
खुश करने को नहीं, न सबको खलने को आए हैं।

जो उत्साह उदधि उमड़ा है अंतर्जगत पटल पर,
उसकी हर हिलोर हावी है इस साधारण जल पर।

जो उद्देश्य फलक पर लिखकर तीरों में जोड़े हैं,
जिनके लिये खाक छानी तो पाथर भी तोड़े हैं।

उनकी पूर्ति परिधि में सारा है ब्रह्मांड समाया,
तब क्यों हारें खारे-जल का बूंद छलक जो आया ?

अपने साधु वृत्ति के फल को अर्पित करें न खर को,
धीरज धरें, मनुष्य लांघते सागर और शिखर को।

पंथ न सकता रोक पथी के पैरों की गति लय को,
कांटे पकड़ न सके फूटते वासंती किसलय को।

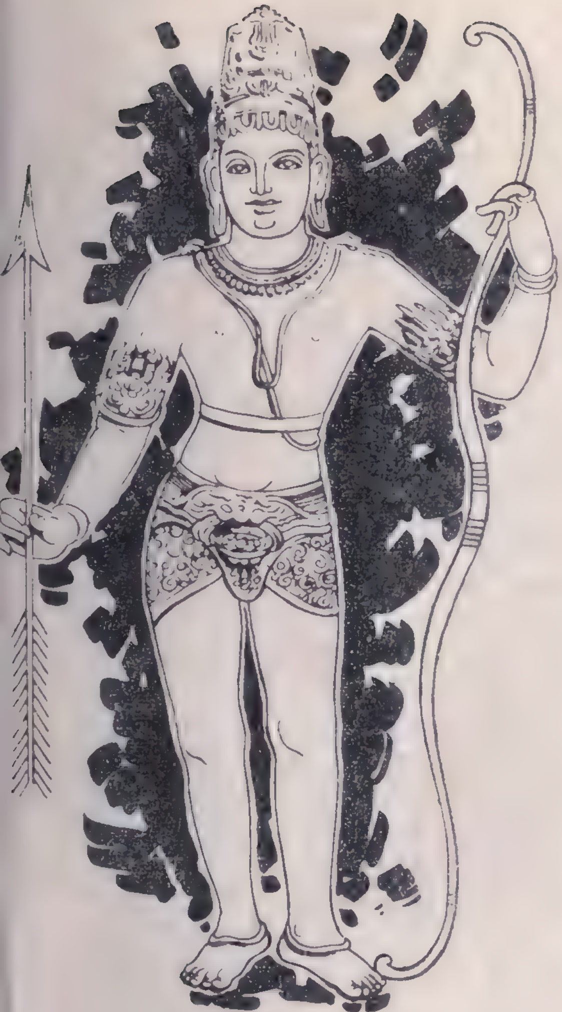
अगर कामना कमल अमल जल-जीवन में फूला है,
और भावना-भ्रमर उसी में भ्रमित और भूला है।

आत्म दहन की आँच सेंककर सूरज जो खिलता है,
तो उसमें पराग का परिचय निश्चय ही मिलता है।

पानी के पंकज खिलते हैं अंगारों के बल पर,
भइया तपती पंखुड़ियां ही हिलती हैं परिमल पर।

कष्ट सहन की वृत्ति आपकी कातर है, कुंठित है,
इसीलिये साधना शिथिल है जप-तप भू लुंठित है।

बंधुवर अपने उछालें ओज को, अंबु में अंभोज खिल रहता नहीं।
सिंह तिनके की तनिक-सी भी चुभन, जागते, सोते कभी सहता नहीं ॥"



छब्बीसवाँ सर्ग

रावण-रेखा सा समुद्र कर पार वीर बढ़ आए ,
संग सुमित्रा सुत सुवेल गिरिपर राघव चढ़ आए ।

ऊपर धूल-धूसरित नभ में ऊंघ रहे थे तारे ,
नीचे वानर सेना रह-रह लगा रही जय कारे ।

कन्धे पर धर हाथ अनुज के तरकस आधा खोले ,
पकड़ा दिया धनुष भी अपना फिर सीता पति बोले ।

'यह जो रवि-मंडल में लोहित नील-लक्ष्य लक्ष्मण है ,
लगता प्रलय-वलय धारण कर मरण मांगता रण है ।

लगी रक्त चन्दन सी संध्या आतप के आनन में,
मैला सा मैदान सामने कोलाहल कानन में।

आसमान में बने बवंडर बिजली छू जाते हैं,
कौए गीध बाज सहसा उड़ते-फिर चू जाते हैं।

कुत्ते रोते हैं चमगादड़ उल्टे हो लटके हैं,
उल्लू बोल रहे हैं गीदड़ भी भय से भटके हैं।

रक्तिम संध्या में झंझा के लगते जब झटके हैं,
अंगारे से दहक बिखरते, बादल कट कट के हैं।

समझ यही पड़ता नर वानर भालु और रजनी चर,
सब के सब होंगे क्षत विक्षत चढ़ कर खर संगर पर।

समतल सुजल सुफल स्थल स्थिर कर सैनिक शिविर लगाओ,
उतरो अनुज समर में सेना को सन्नद्ध बनाओ।

रामानुज पहाड़ की चोटी से जब नीचे आए,
अगणित पाहन खंड-खंड हो गति से खींचे आए।

द्रुत गति से चलते चरणों में ऐसी ज्योति निखारा,
ऐसा लगा कि आया नभ से धरती पर ध्रुव तारा।

रण-दुर्मद रिपु दमनाग्रज ने स्वास्थ्य विभाग बनाया,
वह सुषेण को सौंप नील नल को भी साथ लगाया।

रौद्र रूप के रसोद्रेक के साहस रस संचारी,
गायन वादन के विभाग के द्विविद बने अधिकारी।

सबके पास शत्रुहन पूर्वज पहुँचे बारी-बारी,
बिजली दौड़ गयी वानर दल ने मारी किलकारी।

सेना की सारी सुख सुविधा कर प्रयास बहुतेरा,
पहुँचे पुनः सुबेल श्रृंग पर आया झलक सवेरा।

उठे कोशलाधीश पार्षद सखा और सेनानी,
सावधान हो गये वीर रस पूरित बजी विहानी।

सजे समर के लिये राम रण मत्त अमर आभा युत,
संग लगे सुग्रीव, विभीषण, जामवान मारुत सुत।

पल भर में ही उतर अनुज के अग्रज बन अनुगामी,
अपनी सेना के सम्मुख थे सबके अंतर्यामी।

जय-जयकार हुआ वानर दल बना और बल धारी,
कंधे पर धर हाथ अनुज के अविचल खड़े खरारी।

उसी समय वानर सेना में हुई तनिक हल चल सी,
मुस्काए रघुवीर व्यंग में महिमा गयी मचल सी।

बोले 'विष की बेलि उगी अब जो बैरी ने बोयी,
भेद हमारा लेने आया गुप्त रूप में कोई।'

'देखो दूरी पर कछार की देख रहा छिप लुक है,
बोले तभी विभीषण 'रघुवर यही गुप्तचर शुक है।

यह आनन को देख छिपाये मन को पढ़ लेता है,
जिसका जिसमें जी बहले वे बातें गढ़ लेता है।

बड़ा काइयां है लंका का बड़ा भयानक चर है,
कैसा छिपा देखता बुद्धू बन कर इधर उधर है।'

बोले लखन व्यंग 'अपने ही छिपा जाल में मकड़ा,'
दबे पांव से अंगद ने जा करके शुक को पकड़ा।

कान पकड़ कर लाए रामानुज के बन्दी घर में,
आँख कान को मूंद बांध दी काली पट्टी सर में।

बन्दीगृह के द्वार बन्द कर मंद-मंद मुस्काए,
अंगद सहित अनुज फिर अग्रज जहाँ खड़े थे आए।

खर दूषण, विराध-त्रिशिरा के बधिक बने रघुनन्दन,
लंका में उद्दंड और कुछ अधिक बने रघुनन्दन।

बोले राम 'गगन कंपित है धरती है भय-भीता,
वीरो बढ़ो बुलाती बेबस बनी बंदिनी सीता।

मैं लक्ष्मण का अग्रज हूँ आगे-आगे चलता हूँ,
मुख्य दशानन द्वार घेर कर के खल को खलता हूँ।

दक्षिण द्वार बालि सुत छेंके पूर्व सुकंठ सँभाले,
जामवंत उत्तरी द्वार को जम कर देखें भालें।

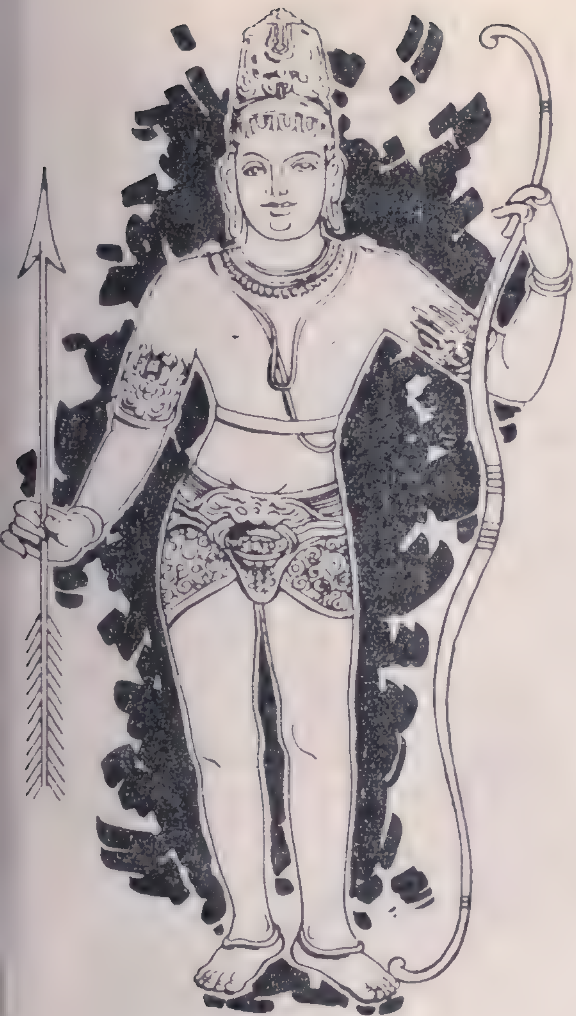
हनूमान पश्चिमी द्वार कर व्यूह बद्ध रण रत हों,
शेष शूर उनके पीछे फिर लड़ने को उद्यत हों।

अर्ध भाग जो बचे करे विश्राम सुबेल शिखर पर,
समर देखता रहे और फिर आ जाये अवसर पर।'

पूरी हुई व्यूह रचना तो राघव कुछ मुस्काए,
और अनुज के बन्दी गृह के पास टहलते आए।

बोले 'अब लाखों लंकापति आयें तो आने दो,
अपना काम बन गया चाहो तो शुक को जाने दो।'

राम थे उद्दाम उनके वाम भुज में,
अनुज ने कौतुक किया, मन मुड़ गया,
आंख की पट्टी हटा हर गांठ खोली,
लूक लंका की लिये शुक उड़ गया॥



सत्ताइसवाँ सर्ग

रावण को संदेश मिला अरि दल का शुक सारण से ,
अंगद का दूतत्व विफल हो गया इसी कारण से ।

समझ गया दसवदन सिंधु-लंघन अनिवार्य समर है ,
सन्नाटा आंधी से पहले का ही प्रलयंकर है ।

पल भर की यह शांति महारण और मरण लायी है ,
आग अयोध्या की लंका में जलने को आयी है ।

तब फिर क्या बिलंब अपना अवलंब अगर संगर है ,
जब गिरने लगता है घर हर कोई दसकंधर है ।

मन की बात दबा कर मन में सिंहासन पर लरजा,
युद्ध घोष है हर योद्धा के लिये युद्ध है, गरजा।

'पहला ही आघात लगे ऐसा जो संघातक हो,
नर मर गया अगर तो वानर वध का क्यों पातक हो?

पर जिसने विराध त्रिशिरा को मारा खर-दूषण है,
उससे लड़ सकता कोई वैसा ही कुल-भूषण है।

ऐसा बिकट समर पहले भी सका न सबसे सध है,
जिस पर बिजली गिरती हो तो मेघनाद ही बध है।

'मेघनाद' दसमुख से सहसा मेघनाद सा फूटा,
जैसे बादल दल विदीर्ण कर प्रलय पिंड हो फूटा।

औंध पड़े पहले जो उनके कौंध पड़े लोचन थे,
रक्त प्रवाहित हुआ तमतमा उठे तमिश्रित मन थे।

जय लंकापति इन्द्रजीत की जय जय स्वर-संभ्रम था,
सभा-भवन में प्रखर नाद बन बिखर गया विक्रम था।

मुकुट उतार धनुष धर तरकस खोल शिथिल परिकर कर,
उठा इन्द्रजित वीरासन से अनुशासन अंजलि भर।

अर्घ्यदान दे उच्छृखंल सी नव-वय को तर्पित कर,
चरण स्पर्श पिता का करके अपने को अर्पित कर।

शक्र जयी बोला 'आज्ञा दें मैं बानर दल छेंकूं,
लक्ष्मण राम सहित सेना को पार पयोनिधि फेंकूं।

कपट-युद्ध से झपट इन्द्र को मैंने कभी दबोचा,
स्वर्ग-लोक के बने घोंसले को बिगाड़ कर नोचा।

घोड़े जो जोड़े ज्योतित थे भुवन-भास्कर रथ में,
मुझे खींच कर अस्त हो गये, व्यस्त तिमिर के पथ में।

पवन देख कर मुझको ठहरा जल बहता रहता है,
और अनल अपने में अपने को दहता रहता है।

जो कुछ मिले देवताओं को सुख मेरे सारे हैं,
मेरी इंगित पर ही उगते चाँद और तारे हैं।'

'जब चलने की बात चले तब भला न लगता लेटा ,'
माल्यवान ने टोंक बीच में कहा बस करो बेटा।

जो सागर को बांध साध कर प्राण-वायु श्वासों में ,
अमरज्योति पकड़े हैं जकड़े अपने विश्वासों में।

कूट समर से छूट न सकता उनके तप का सोना ,
बांधों कमर प्रखर स्वर साधो उलटी बात कहो ना।'

'श्वेत-केश ले वृद्ध-बुद्धि से हो न सके यदि मंगल ,
बोला दश सिर 'भाई साहब करो न और अमंगल।'

मेघनाद फिर बोला 'घर में हर कोई ज्ञानी है ,
नहीं जानता मिले समर-सर में कितना पानी है।

बांहें फड़क रहीं हैं मेरी आँखें अंगारे हैं ,
अंग-अंग रण-रंग लगाये अस्त्र-शस्त्र धारे हैं।

कह कर सिरस्त्राण सिर पर धर फिर से परिकर बांधा ,
लटका कर कमान कंधे पर अभिमुख आधा-आधा।

सभा-भवन को छोड़ लगा ज्यों ही बाहर जाने को ,
आहट हुई कि जैसे कोई पीछे से आने को।

सारण आया पास पूंछ कर जाने क्या कुछ शुक से ,
मेघनाद के कुंडल झलके और गये कुछ झुक से।

कहा कान में बात 'आपने अभी न उसको देखा ,
लांघ न पाये लंकापति भी जिसकी सीमा-रेखा।

वह सागर विस्तार पार कर आक्रामक लंका का ,
सरल न इतना समाधान है इस भ्रामक शंका का।

तपे कनक सी बनक चमकती तरकस में तीरे हैं ,
झल-झल करते फलक कि जैसे धार धरे हीरे हैं।

सिर पर जटा घटा सी घुमड़ी उमड़ी वनमाला सी ,
ओज-तेज की लपट निकलती आनन से ज्वाला सी।

उठती जय की रेख लेख-सी उद्भव उद्योगी है ,
वल्कल वसन मस्त मंडित तन युद्ध बना योगी है।

अधिक कहूं क्या चुपके से बस जो कहना इस क्षण है ,
बस इतना लघु-बंधु राम का तो लड़ता लक्ष्मण है।

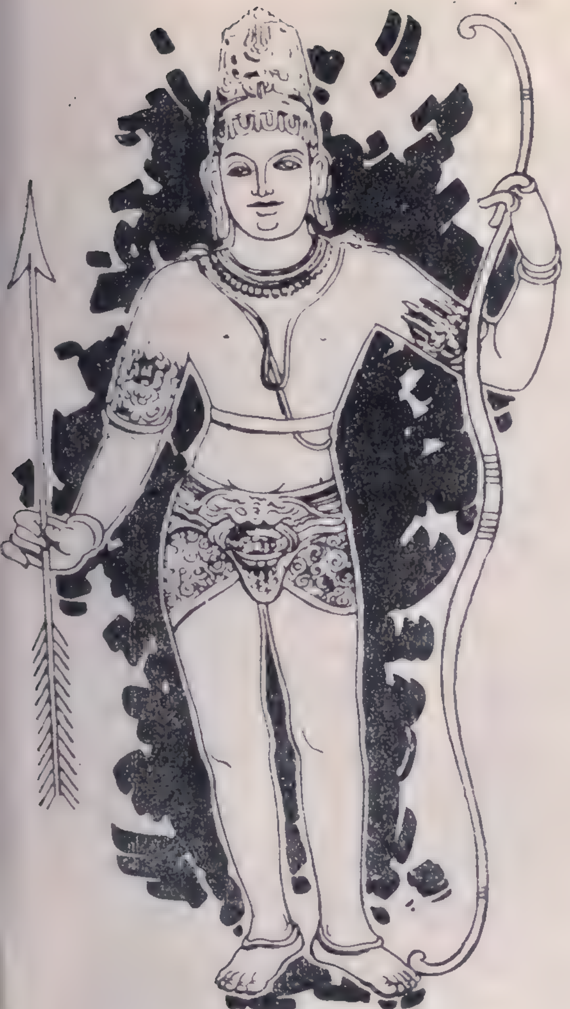
वही मरण का मंत्र, यंत्रवत सैनिक सब तत्पर हैं ,
वानर-भालु इसी के फेंके कंकड़ हैं पत्थर हैं।

बाम अंग सूना है भय है केवल दक्षिण भुज से ,
नहीं राम से सावधान रहना है रामानुज से।'

'उंह छोड़ो भी मुंह में आये बचे नही भक्षण से ,
मेघनाद बोला 'उपजी यह शंका संरक्षण से।

निरालंब जो ऐरावत पर चढ़कर जीत गया है।
मत समझो उसके जय-यश का तरकस रीत गया है।'

उठ पड़ा अंगार-सी आंखें लिये, रुष्ट रावणि, मेघनादी स्वर भरे।
और बोला 'कौन वासव से बड़ा वीरता में, युद्ध मुझसे जो करे ?'



अठ्ठाइसवां सर्ग

समरारूढ़ सुबेल शिखर पर राम और लक्ष्मण थे ,
बुझी विरह की व्यथा, युद्ध के दहके पावक कण थे ।

धरती का धूमिलपन पुलका बदला रंग गगन का ,
छोड़ क्षितिज को उठा और आभास अरुण आनन का ।

मद-विह्वल ब्रह्मांड राम के साहस पर संस्थित था ,
अंतर-अंबुधि ओज-तेज के मंदर से मंथित था ।

श्यामारुण ललाट पर छिटके श्रम-कण क्षतविक्षत हो ,
ज्यों नीलम में लाल ढालकर काल कर्म में रत हो ।

रामानुज के अंग-अंग में बजे भैरवी सुर थे,
एकाकी-ही अरि-मर्दन को जो अतिशय आतुर थे।

मुस्कानों से कौंध रही थी शोभा शुभ्र अशनि की,
बुद्धि विभासित थी सहस्त्र-फण पर आलोकित मणि सी।

उगा सूर्य बज उठा तूर्य रण-घोष रोष राता था,
वानर-सेना का समग्र संक्षोभ उठा आता था।

जय श्री राम, लक्ष्मण की जय बोल-बोल बढ़ते थे,
कभी उतरते उच्च-शिखर पर और कभी चढ़ते थे।

संग सुकंठ विभीषण अंगद करते सैन्य निरीक्षण,
जिसे देखते वही और हो जाता था दृढ़-चेतन।

अग्रज ने आकर पीछे से थपकी दी थोड़ी थी,
जैसे अरणि उठा ऋत्विज ने घृत-आहुति छोड़ी थी।

धधक उठा आवेश अनुज का पीछे मुड़ कर देखा,
सिमट गये चुपचाप आप ही मिटी रोष की रेखा।

बोले राम 'शत्रु सम्मुख है और अनिष्ट निकट है,
लगता है उद्दंड प्रकृति का यह संग्राम विकट है।

आसमान गँदला है धरती भी धँसती जाती है,
होते सुबह चाँदनी सूरज पर हँसती जाती है।

संध्या रक्त-चंदनी लोहित-सी लगती शीतल है,
बदली दृष्टि दिवाकर की है, कनक-प्रभा पीतल है।

अपने आप, ताप इतना है खड्ग म्यान से खसती,
औ अनामिका में अपने ही डोर धनुष की फँसती।

बुझते दिन को देख उठा मुख ऊपर खग-मृग रोते,
अंतराल में छिपे लाल तारे अंगारे बोते।

यह अपशकुन अमंगल के पल रूप बदलकर आते,
आगम का आभास अचानक अनायास दे जाते।

सहसा सिहरी ध्वनि तरंग तन गये भृकुटि के बल थे,
गूंज उठा रण घोष तीर तरकस से रहे निकल थे।

धरा कसमसा उठी और कुछ डोल उठा पर्वत था,
वातावरण बँधा, उबला सागर भी संगर रत था।

चमक उठे शस्त्रास्त्र और फिर शिरस्त्राण दमके थे,
धँसे धूलि में ध्वंश-अंश अवतंस जटिल यम के थे।

फिर निकले जिस तरह निकलते हैं अनिष्ट के तारे,
राक्षस-कुल संकुल सेना के दिखने लगे दुधारे।

विकट बाढ़-सी खड्ग पाटती चढ़ती शैल शिखर पर,
बिंदु-बिंदु मिल कर विराट से वारिधि बने बिखर कर।

रामानुज चुपचाप देखते और आप संयत थे,
चारों ओर शस्त्र-संयुत हो वानर-भालु नियत थे।

आंधी आने के पहले का-सा कुछ सन्नाटा था,
समर-सिंधु में उठा अचानक-प्रवल ज्वारभाटा था।

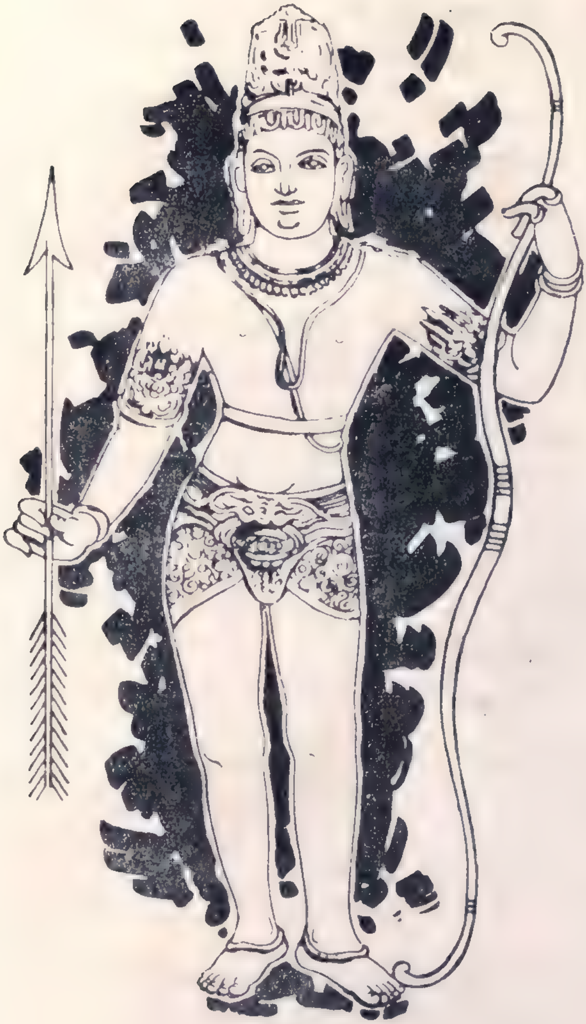
हाथी घोड़े रथ पैदल दल अलग-अलग बांटे थे,
वे भी बावन हाथ बड़े थे जो सबमें नाटे थे।

लक्ष्मण का जागा वीरोचित दर्प सर्प-सा तत्क्षण,
और प्रकट हो गये पराक्रम से परचे पावक कण।

अपने-आप जल उठी समिधा स्वाहा बोल न पाये,
तना तीर खस पड़ा प्रत्यंचा तक को तोल न पाये।

'जय श्री राम' कहा फिर अकड़े हँसे तनिक इठलाकर,
और उधर छटपटा रहा था मरणासन्न निशाचर।

इस प्रकार विस्फोट हुआ लघु के विराट लक्षण से,
राम और रावण का रण आरम्भ हुआ लक्ष्मण से।



उन्नत्तीसवां सर्ग

सागर गरजा वानर दल में बोल उठे जय जय के ,
अंधकार में चुभे उषा के तीखे तीर उदय के ।

अखिल सृष्टि की कृषि पर पहले का पाला पिघला था ,
रामचन्द्र ने किया आक्रमण शौर्य-सूर्य निकला था ।

गूंज उठे स्वर घमासान के पगध्वनि के, जयध्वनि के ,
फूत्कार कर उठे विषैले पाले रघुकुल मणि के ।

रण में आगे लक्ष्मण तत्पश्चात राम का दल था ,
दसकंधर इस ओर इन्द्रजित के पीछे खल बल था ।

दोनों ओर युद्ध की ऐसी विधि थी गयी बनायी,
बड़े-बड़े पीछे छोटे छोटों की छिड़ी लड़ाई।

श्याम वर्ण के संरक्षण में गौर वर्ण सेनानी,
बादल में बिजली जैसे पाहन में फूटे पानी।

सम बल जान भिड़े वानर-भालू से रजनीचर थे,
शिलाखंड से शैल शूल से सटकर भिड़े शिखर थे।

भिड़े 'प्रजंघ' और 'संपाती' 'नल' 'प्रतमन' का रण था,
'नील' 'अशनिप्रभ' का 'मारक' का 'मैन्द' मंत्र मारण था।

'द्विविद' 'सुषेण' 'शरभ' संगर में छूट रहे थे शर से,
'विरूपाक्ष' के बाण नुकीले आए इधर-उधर से।

हनूमान उचके चढ़ गरजे थे विद्युन्माली पर,
जैसे बन्दर बड़ा कूदता है पतली डाली पर।

चकनाचूर हो गया रथ था रूद्ध हो गया पथ था,
राम और रावण के अब विख्यात समर का अथ था।

वानर दल बेहाल, हाल कुछ काल-गाल भक्षण के,
विरूपाक्ष के तीर पहुँचने लगे पास लक्ष्मण के।

कोपे लखन, राम मुस्काए देख कमान कड़ी थी,
अभी पराक्रम की पहली ही परत नहीं उघड़ी थी।

दुर्दम दनुज वाहिनी उमड़ी मनुज-पक्ष को छेंका,
विरूपाक्ष ने बान कान तक ताना चुटकी सेंका।

इससे पहले चले तीर वह भार तोलते भुज से,
विरूपाक्ष का काम तमाम हो गया रामानुज से।

विरूपाक्ष का स्वर जैसे हो वज्र व्योम से छूटा,
जिस पर गिरा दहाड़ मार कर वह पहाड़ भी टूटा।

रजनीचरी अनी की रजनी बिखरी कुछ छँट आयी,
मेघनाद की सही सुरक्षा पंक्ति कटी बँट आयी।

जैसे नद का नीर बेध कर के बड़वानल फूटे,
या काले-बादल से उल्कापिंड उछल कर छूटे।

वैसे मेघनाद विचलित हो विलग हुआ वीरों से,
मुंह भर गया खुला था तत्क्षण लक्ष्मण के तीरों से।

लुक छिप किसी तरह से उसने अपनी जान बचायी,
सध न सकी आमने-सामने की ललकार लड़ाई।

बल से हुआ पराजित बाजी लगा खेलने छल की,
घन का नाद नापने पहुंचा परिधि गगन-मंडल की।

अरि अदृश्य हो गया तिमिर-तन काली रात तनी थी,
और प्रबल हो गयी निशा पाकर निशिचरी अनी थी।

हँसा ठहाका मार बरसने लगी आग पानी सी,
माया युद्ध चमकती जगती लगती शैतानी सी।

चारों ओर रहस्यमयी उनई थी घटा घुमड़ कर,
अनजाने आ गयीं आंधियां बन व्याधियां उमड़ कर।

बोला वारिद नाद 'पेड़ तक चढ़ जाने वाले हैं,
वानर-भालु गगन पथ गामी नहीं पंख वाले हैं।

धरती के तपते कड़ाह में मसल मसल मूसल को,
मैं भूनूंगा चना चुरमुरा बना राम के दल को।

बैरी सभी आंख के आगे मैं केवल ओझल हूँ,
कूट, कटक कर पटक धरा पर मैं निशिप्रभ मंडल हूँ।

आंधी ला सकता हूँ मुझको लगती नहीं हवा भी,
मैं जिनका मारक मिल सकती उनको नहीं दवा भी।

रामचन्द्र कुछ पल को पत्नी की सुधि कर तो रो लो,
और अनुज आखिरी बार अब अग्रज के पग धो लो।

मृत्युमुखी नाराच आंच ले सांच माच नाचा है,
कहां विभीषण भीरु भतीजे से भट का चाचा है?

आग लगा अगुवा बन बैठा हनूमान बाजीगर,
अंगद कहां बंधु बध के साधक सुग्रीव उजागर?

एक-एक के नाम गिना कर फेंक रहा अंगारे,
मेघनाद था ही अदृश्य हो गये दृश्य हत सारे।

हाता था विस्फोट गगन में चोट धरातल पर थी,
ऐसा कूट युद्ध था जिसकी ओट हिमांचल पर थी।

बैठे जहां शम्भु उनके गण ही केवल अक्षत थे,
सुर नर वानर शेष सभी के तन-मन क्षत-विक्षत थे।

आँख खुली मिरचे सा लगता धुवां ध्वंश अंशी था,
अम्बर आग, धधकती धरती, सागर विध्वंशी था।

साध-साध कर चला रहे थे लखन तिमिर में तीरें,
ऊपर तक चलती न एक थीं नीचे की तदवीरें।

कान सुन्न हो गये सनकते अगिया बैतालों से,
मुँह थे बन्द तड़पते तन के अधरों पर ताले से।

रोओं से बह चला पसीना खून बना पानी था,
त्वचा बचा पायी न प्राण से पीड़ित हर प्राणी था।

वानर भालु भागने को थे जो बच गये मरे थे,
राम-लक्षमण मात्र मेघ की माया में निखरे थे।

अग्रज था सन्नद्ध बद्ध कटि पावक पीताम्बर में,
और अनुज की आंख लगी थी आतंकित अम्बर में।

छल से छितरा कर वानर दल लक्ष्य किया लक्ष्मण को,
मेघनाद ने राम छोड़ कर गहा राम रक्षण को।

मरण-क्षरण हो रहा विषैले विद्युत वारिद रण से,
या कि बरसती व्यथा कथा जो निकली प्राण हरण से।

वैसे बरस रहे थे नभ से अशनिप्रभ अंगारे,
खाली गये न आयुध जो भी मेघनाद ने मारे।

एक तीर आ लगा राम के पग में पहुंच तिरीछे,
जो निरपेक्ष भाव से अब तक थे लक्ष्मण के पीछे।

आसमान से लगा निशाना धरती पर सीधा था,
शत-शत शेल प्रहार लखन का रोम-रोम बींधा था।

देखा रामचन्द्र ने केवल अनुज लक्ष्य है रण का,
दक्षिण भुज रक्षण में आया ध्यान न बिंधे चरण का।

लक्ष्मण को पीछे कर आये आगे आप उछल के,
जैसे ज्वार-भार सागर का तट बंधन तज छल के।

चले राम के तीर चीरते मेघनाद की माया,
पर अरि रहा अदृश्य सामने नहीं समर में आया।

वार बचाते रहे अनुज पर आ न सकी उल्कायें,
भेद-भरा संग्राम राम की बनी भुजंग भुजायें।

बार-बार फुफकार मार कर छूटे विशिख विषैले,
लक्ष्यहीन निक्षेप दिख रहे दूर-दूर तक फैले।

जैसे ढूंढ रहे तम का क्रम अपनी ज्योति पसारे,
निशा मग्न निःसीम गगन में अगनित मंगल तारे।

अग्रज के डगमग पग धीरज धरती हिली अनुज की,
वाम अंग कंपित कुछ कुछ नस फड़की दक्षिण भुज की।

और लाल हो उठा लखन-मुख बादल-बेधित रवि सा,
अंग अंग जल उठा हवन में अर्पित दर्पित हवि सा।

तरकस को टटोल चुटकी से पकड़ा ब्रह्म-विशिख था,
उसी समय अग्रज को करतब गया अनुज का दिख था।

'ठहरो बन्धु' कहा राघव ने अभी न हिम्मत हारो,
अंतर्धान अगर अरि उस पर ब्रह्म-बाण मत मारो।'

मेघनाद ने वर-प्रसाद का इधर निषंग निकाला,
चढ़ी प्रत्यंचा पर सारा बल रच प्रपंच फिर डाला।

वज्रपात करता अमोघ शर बना आततायी था,
और शेषशायी रघुवंशी हुआ धराशायी था।

राम हुए परवश मूर्छित हो स्ववश अनन्त अड़े थे,
वानर भालु सभी पहले से जो भी लड़े पड़े थे।

एक अकेला मानव दानव के दल बल को तोले,
रण रत हो कर एकाकी जय राम चन्द्र की बोले।

मेघनाद ने देखा वानर सेना तितर-बितर है,
जो बच रहा अचेत युद्ध रत एकमात्र ही नर है।

शत शत शेल शतघ्नि शूल मुग्दर को साथ चलाया ,
और अकेला जान सामने रामानुज के आया ।

रिपु को देख समक्ष स्वस्थ हो गये शेष अवतारी ,
तान कान तक बान दाहिनी केवल आंख उघारी ।

ओज तेज आनन पर दहका लहका लोह फलक था ,
लगता पिघला अनल अचानक छन कर गया छलक था ।

"जय श्रीरा...कह कर मकार तक पहुंच न पाया स्वर था ,
मेघनाद छुप गया, चढ़ा का चढ़ा रह गया शर था ।

रामानुज मन मार देखने लगे नयन दोनों से ,
सधा निशाना शिथिल धनुष के हुआ कठिन कोनों से ।

स्वेद-विन्दु झलके ललाट पर व्यर्थ गयी बध-वेला ,
अरि अदृश्य हो गया जान कर की रण की अवहेला ।

तीर डाल तरकस में उतरा धनुष धर दिया भू में ,
खाली हाथ घुमा कर उछले शेष, अचेत चमू में ।

लगा कि जैसे उड़ा स्वर्णगिरि कालिख-मुखी दिशा में ,
चमका हो चेतन स्फुलिंग ज्यों माया-मढ़ी निशा में ।

वैसे ही ब्रह्मा से हठ कर वर प्रसाद में मांगी ,
मेघनाद ने छिपे छोड़ दी वीर घातिनी सांगी ।

प्रबल, प्रयोग-निषिद्ध शूल से विद्ध हुआ वक्ष स्थल ,
जीव बद्ध हो गया मेघ से मंडित माया के बल ।

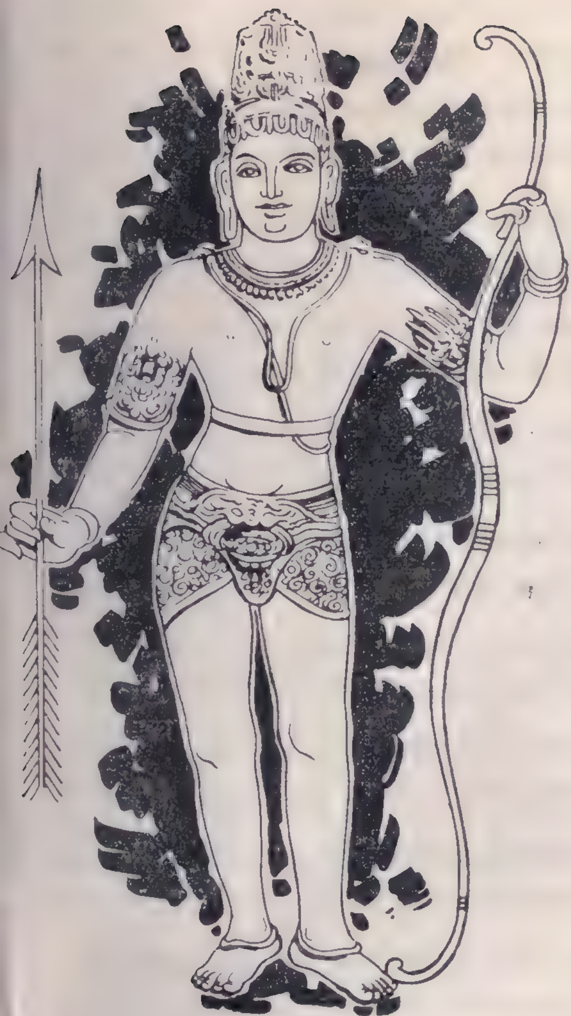
हाथ पांव हो गये शिथिल सब चेतन बना अचेतन ,
जैसे संध्या का सूरज सोया पा निशा-निकेतन ।

जय-जय श्री रघुवीर क्षीण ध्वनि बस मुख से निकली थी ,
गिरे धरा-धर भूचालित गति पर धरती फिसली थी ।

सकुचे सहज शेष-फण बसुधा डोली बिना सहारा ,
अनुज अचेत हुए जैसे अग्रज ने पलक उघारा ।

मूर्छा विलीन हुई लघु बन्धु को विलोक ,
शत्रु व्योम-व्यूह में, विधाता बने वाम से ।

उथल-पुथल में धरातल दबा के वहीं,
उठता पहाड़ है यथा यथार्थ नाम से॥
वीर सब सोये थे समर-भूमि मध्य और,
बेसुध विरंचि बने जिनके विराम से।
जागे जगदीश, जागे कोश भालु भील सभी,
सोये मूर्छना को छीन लक्षमण राम से॥



तीसवाँ सर्ग

जिन्हें देख कर जीवन भरता सांसें भय विस्मय की,
रोयें फूल खड़े हो जाते उद्गति भूल उदय की।

ऐसे विषधर नाग गले में माला सी डाले है,
शिव शंकर जो अशिव भयंकर भूत-प्रेत पाले हैं।

काशी पति कैलास निवासी कर विष बेलि सुधा सी,
गंगा जल में अगिनि जलाये विकट विरोधाभासी।

डगमग पग ले गिरे कुमग में जग से हुये बहिष्कृत–
जो उनको भी पुण्यदान कर करते रहे पुरष्कृत।

भावुक भोला नाथ रमाये भष्म अंग अंगारी,
वे त्रिशूल पर त्रिकालज्ञ त्रिभुवन वंदित त्रिपुरारी।

बैठे थे एकांत शिला पर महामहिम मितभाषी,
कलित कलाधर में बिंबित थी ललित कला कैलासी।

मानसरोवर का निर्मल जल जिसकी प्रति कृति खींचे,
हहर हहर हर हर का स्वर भर लहर रहा था नीचे।

परम शान्ति प्राकृतिक प्रकट छवि स्वयंमागता कला सी,
मुकुलित मौन कमल-वन मंडित किरण कांति कमला सी।

यह प्रशान्त पर्वत का प्रांगण देवात्मा हिमालय,
गिरि गह्वर में गौरी पति की गूंज रही जिसमें जय।

धूप धूम लहरा कुहरा सा दिशा कलश भरने थे,
तुहिन प्रसून बरसते देते अर्घ्य जहां झरने थे।

भवन-भूमि-तल का भूषण यह और देश का सिर भी,
परम पूज्य कैलास हमारा मंदर भी मन्दिर भी।

मनुज दनुज के से घर्षण की नियति नटी की क्रीड़ा,
देख विधाता का मन पिघला सह न सका यह पीड़ा।

इस परमात्म ब्रह्म से पूरित शिखर सभा मंडप में,
आये विश्व रचयिता ब्रह्मा जो निमग्न थे तप में।

असुर पराजित सुरपति ले कर संग संपदा पति को,
आए सभी सुरों पर कहने असुरों की अति गति को।

जय जय कार किया देवों ने महादेव तब डोले,
'आर्तनाद किसका है देखो' पार्वती से बोले।

गिरि कंदरा खुली थी उसके वातायन से झांका,
सहसा देख उमा ने सारे सुर समाज को आंका।

उसी समय आ गये बजाते नारद अपनी बीना,
सरस्वती साकार हो उठीं विद्या बुद्धि प्रवीना।

'नारायण नारायण' कह देवर्षि लगे गुन गाने,
बिहँसे विश्वनाथ बोले 'आए हो कुछ कहलाने?

बैठो भक्त राज स्वागत में पर्वत राज हिमालय,
नीरद नाद विवाद बता दें यही न अभिमत आशय ?

मेघनाद रावण का बेटा इन्द्रजयी वरदानी,
मेरा भक्त समर में उतरा है लेकिन अभिमानी।'

'रहते किन्तु आप हैं सबके सर पर हाथ उठाये,
अपनों के अपराध न गिनते भोलेनाथ कहाये।'

बोले नारद 'आप बीच में पड़ें न जब यह तय हो,
देवासुर संग्राम असुर तब मरे सुरों की जय हो।

भय है कहीं न लगे आपकी भव्य भूति का टीका,
उत्पीड़क ही विजय न वर लें नर मुख पड़े न फीका।

मुँह में नमः शिवाय मगर मन छल के मल से मैला,
जो अनुराग हीन जिसका आतंक मात्र ही फैला।

मेघनाद यदि सच राघव रामानुज का बैरी है,
तो समझो विष लता तरल पावक तल पर फैली है।

एक न्याय के लिये बना वनवासी वैरागी हो,
और दूसरा अन्यायी हो द्वेषी हो रागी हो।

नियम प्रकृति का यही सत्य की ही असत्य पर जय हो,
क्षणिक प्रभा शंपा की शाश्वत शून्य प्रभा में लय हो।

राम लक्ष्मण तपो पूत स्वयमेव शक्तिशाली हैं,
किन्तु कपट की लपटें चुपके से चुभने वाली हैं।

वारिद नाद बली छल बल से राम लखन सीधे हैं,
इसी तरह से सुमन सुगंधित कांटों से बींधे हैं।

यह असह्य स्थिति अदिति और दिति के संतानों की,
विश्व न भोगे दुर्गति बरबस बांटे बरदानों की ?'

बोले सृष्टि रचयिता 'मेरी दृष्टि कभी धुंधली थी,
दसमुख सुत से कठिन साधना से जो गयी छली थी।

मैंने दिया भुलावे में आकर के ऐसा वर है,
वारिद नाद बाहुबल से ही कभी न सकता मर है।

जो संयमी तएस्वी विनयी उससे कहीं अधिक हो,
वही बली इस बैर विहग का विजयी और बधिक हो।

बिना प्रयोजन के 'वनबासी, अग्रज के कारण हैं,
महादेव कह गये कि ऐसे वीर व्रती लक्ष्मण हैं।

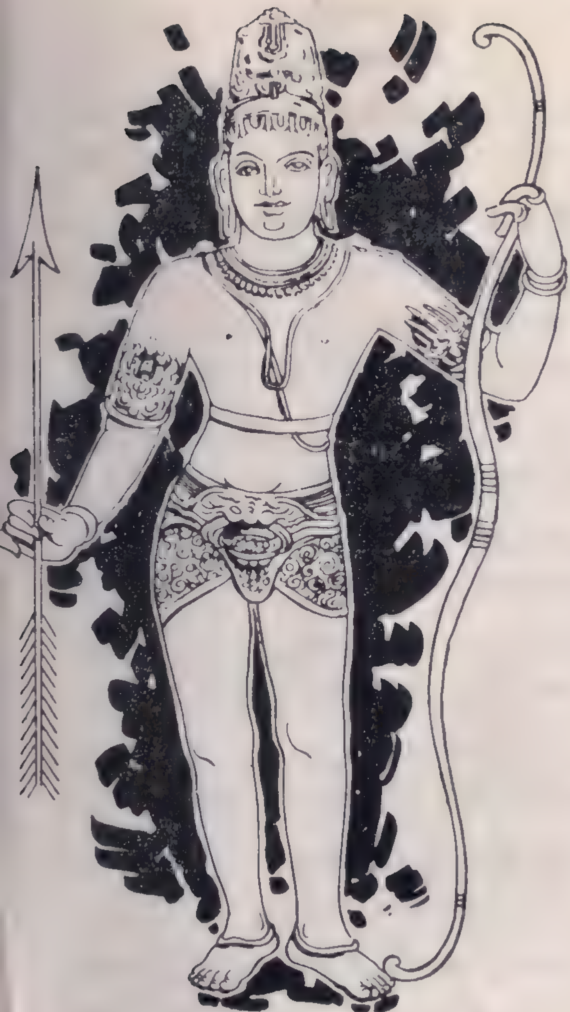
जो औरों के लिये झेलता आतप वर्षा जाड़ा,
काल गाल को केवल ऐसे ही फक्कड़ ने फाड़ा।'

चूमने लगा जो दुग्ध धौत भूल में कपोल,
नील कंठ में लपेट सांप पांच फुट का,

भोलेनाथ ने उठा के बाँया हाथ बम् बोल,
घोल भंग बूटी संखिया के साथ घुटका,

बोले 'काली रात न रहे तो कौन करे बात,
चांदनी की, चांद लगे चांदी का है गुटका,

शैलजा, विकास का विलास मंच सूना रहे,
भलों को खलों का रहे न रंच खुटका।।



इक्तीसवाँ सर्ग

अम्बर का आक्रोश धरा के लिये ध्वंश-लीला था,
रावण की जयकार राम का घाव अभी गीला था।

दिन त्रिकूट पर उतरा प्रातः पर पीला-पीला था,
सागर उतना ही खारा था जितना रेतीला था।

अग्रज की आपदा अलग कर आत्मसात् कर मेटे,
अनुज अचेत खुली धरती पर घाव लिये थे लेटे।

जैसे हिमगिरि के मस्तक पर गिरे वज्र को तोले,
स्वर्ण-शैल स्तंभित हो स्थिर हो हुमसे हिले न डोले।

ऋक्षेश्वर कपीश, लंकापति का पद लिये विभीषण,
हनूमान अंगद करते थे अपने में अनुवीक्षण।

चिंतित मौन और मूर्छित-सी विचलित वानर-सेना,
उखड़ चले थे पैर पड़ गया था लेने का देना।

सहसा भावावेश, उठ पड़े राम और फिर बैठे,
लिया अंक में डाल अनुज को अन्तर्तम में पैठे।

लंबी साँस खींच कर के फिर छोड़ हुए बाहर थे,
भले देवता-तुल्य कर्म हों राम अंततः नर थे।

अश्रु प्रवाह अथाह सिंधु में जैसे ज्वार उठा हो,
या भीषण भूचाल पाहनी पर्त उधार उठा हो।

'बंधु-बंधु' कह कर के खाये पहले कुछ हिचकोले,
फिर सिर सूंघ अचेत अनुज का अग्रज रो कर बोले :–

'तुम अपने अनुचर थे अपने आज्ञाकारी घर में,
जो जंगल में मंगल बन सहचर बन गये समर में।

मुझे मिला वनबास दंड पर तुमने उसको झेला,
जोड़ लगे थे उन्हें तोड़ कर अपना किया अकेला।'

सिर पर हाथ अनुज पर अपलक द्रवित दृष्टि को डाले,
सिसक रहे थे अग्रज अपने आकुल प्राण सँभाले।

अतुलित बल, विक्रम विभूति को तरल तुला पर तोले,
आंसू पोंछ कोंछ से वल्कल के करुणानिधि बोले :–

'रहे प्राप्ति में पीछे, प्राप्त गंवाने में थे आगे,
चौदह-बरस न पलक गिरायी मैं सोया तुम जागे।

तुम्हें न राजा बनना था युवराज नहीं होना था,
ऐसा पद ले जनमें जिसमें खोना ही खोना था।

जो विपत्ति में अपना हो वह सच में ही अपना है,
यह सारा संसार नहीं तो सपने का सपना है।'

देखा जब राजीव विलोचन की आँखों में पानी,
धीर अधीर हुए व्याकुल वानर सेना बिललानी।

जामवान के साथ विभीषण लज्जित शीश झुकाये,
एक दूसरे का आश्रय ले राम जहाँ थे आये।

युद्ध-भूमि में कहा विभीषण ने विलाप पातक है,
धैर्य धरें रघुनाथ लखन का घाव नहीं घातक है।

ब्रह्मसेल को झेल मुखाकृति जिनकी मन्द नहीं है,
अधरों पर मुस्कान, चल रही नाड़ी, बन्द नहीं है।

वैद्य सुखेण गुणी लंका का रावण का दरबारी,
मेरा मित्र सत्यविद भेषज-निर्माता अधिकारी।

आज्ञा हो तो पवनपुत्र फिर वेष बदल कर जायें,
वैद्य राज को चाहे जैसे हो लंका से लायें ?'

'सखा विभीषण जिससे मेरे अनुज उठें दृग खोलें,
कहा राम ने 'कहां वैद्य जी विष में अमृत घोलें ?'

पाते ही संकेत पवन-सुत धूलि धूसरित धाये,
जैसे उठे बवंडर वैसे ही लंका में आये।

औषधि बूटी मंत्र-तंत्र-संयंत्र समेत चिकित्सक–
को ले आये हनुमान अति लाघव में राघव तक।

नाड़ी देख अनुज की अग्रज की आँखों का पानी,
मेघनाद के आयुध की पढ़ कर आतंक कहानी।

कहा वैद्य ने 'घाव न मैंने ऐसा देखा पहले,
वह भी कवच-रहित छाती पर इसीलिये दिल दहले।

शल्या और विशल्या जैसी संजीवनी दवायें,
प्रात-काल से पहले हिम-मंडित पर्वत से आयें।

तभी काम कर सकती औषधि संजीवनी हमारी,
तभी ब्रह्म-शर-बेधित रोगी होगा स्वस्थ खरारी !

संभव नहीं कि कोई इतनी नाप सके जो दूरी,
जो मुझको लाया है कर सकता है इच्छा पूरी।'

समझ गये हनुमान अचानक आत्म-तेज फिर जागा,
'जय-श्री-राम' कहा पग-वंदन के मिस अनुमति माँगा।

काली रात मलिन मौसम था, दृढ़ आज्ञापालन था,
राम-प्रताप-दिवाकर करता पथ का संचालन था।

हनूमान उड़ गये राम-सेना में सन्नाटा था,
समर-सिंधु में जीत हार का मात्र ज्वार-भाटा था।

जय-जय-कार शत्रु सेना में हाहाकार इधर था,
विजयोल्लास विषाद बँटा था रावण-राम समर था।

राघव देख निशांत भ्रांत हो हनूमान भटके हैं,
इधर अनुज के प्राण अधर में आकुल हैं अटके हैं।

हाथ फेर कर के ललाट पर संज्ञा-हीन अनुज के,
राम छोड़ देवत्व बन गये प्रतिनिधि प्रकृत मनुज के।

बोले 'बंधु उठो दुर्दिन में फँसा तुम्हारा भाई,
तुम न रहे तो सुलह कलह सी, लक्ष्य-विहीन लड़ाई।

मेरे लिये कुटुम्ब-कटक-भट व्यक्ति समाज तुम्हीं हो,
राज राम का मिले किसी को लेकिन ताज तुम्हीं हो।

तुम्हीं न रहे समर सागर को तो बेकार थहाना,
जटा बढ़ाकर वन-बासी बनने का व्यर्थ बहाना।

जब ध्वज-दंड उखड़ जायेगा ओज-तेज से आँका,
लंका की जय-श्री की फहरेगी तब कहाँ पताका ?

पश्चाताप अरणि-मंथन से निकली जो चिनगारी,
संगर-समिधा जली उसी से वह थी आग तुम्हारी।

हमने किया आचमन साकल फेंकी नियम निबाहा,
दूर बैठ कर रहे बोलते केवल स्वाहा-स्वाहा।

उठी लपट जब पड़ी तुम्हारी ही पहली आहुति थी,
आग तुम्हारी उसके ऊपर उठी तुम्हारी द्युति थी।

तुम्हीं न रहे रुधिर के ऋत्विक तो मिथ्या मखशाला,
मिथ्या सब सामर्थ्य-समिध मिथ्या मन्त्रों की माला।

औषधि अभी न आयी नभ में झिलमिल ध्रुवतारा है,
बुझने लगीं मशालें शीतल हुआ शिविर सारा है।

आशंका की अरुण- शिखा-ध्वनि लगता प्रात हुआ है ,
अनुज हमारे दक्षिण भुज पर पक्षाघात हुआ है ।'

कौशलेन्द्र के निराश व्योम का वितान बेध ,
पुंजीभूत प्रात प्रभा के प्रधान आ गये ,

काली रात कष्ट की कटी कि फटी मेघ राशि ,
खुले आसमान में लिये विहान आ गये ।

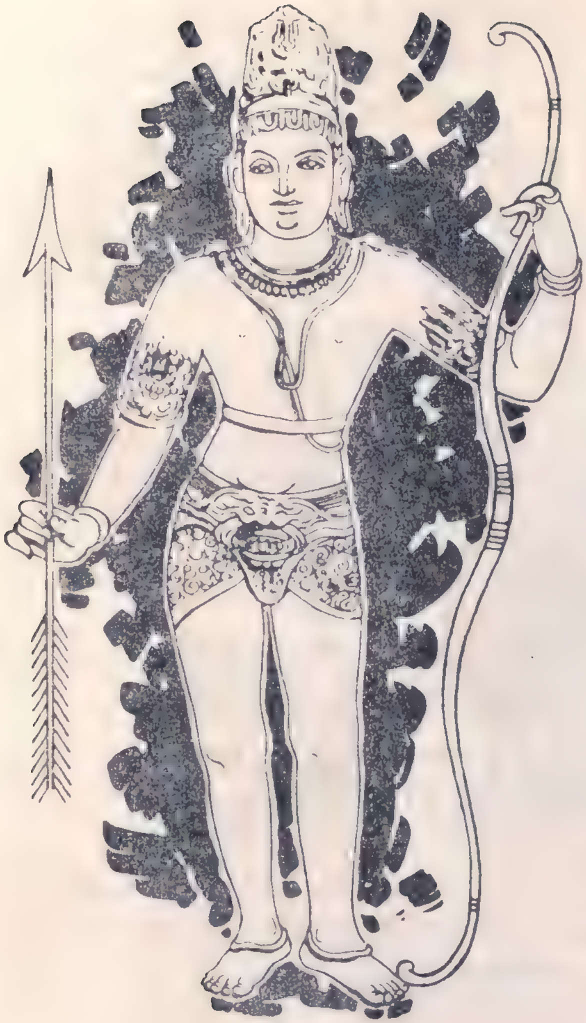
देव-दैत्य-द्वंद की द्विधा में छलछंद बीच ,
बंद हुई मंद साँस के समान आ गये ,

सूर्य निकले थे नहीं तूर्य बना बांसुरी को ,
आसुरी-अमा को चीर हनूमान आ गये ।

वैद्य ने संजीवनी के बूंद दो, डाल कर मुंह में लगया घाव पर ,
चेतना जागी अचेतन प्राण में, शेष-संभव आ गये सम भाव पर ।

संगर-सागर में बल-बोहित का मचला मस्तूल संभाले ,
कंटक के पथ में दलते-मलते कंटक पर फूल संभाले ।

अग्रज के पद की रज माथ में हाथ में शायक शूल संभाले ,
शेष सनातन के अवतार चले जन मंगल मूल संभाले ।।



बत्तीसवां सर्ग

समझा मेघनाद ने लक्ष्मण निपटे राम अकेले,
ऐसा करूं उपाय अभी वैरी विषाद को झेले।

दे दूं तनिक विराम राम को स्वयं शीश धुनने का,
बिना लड़े ही वापस जाने का अवसर चुनने का।

अपने से ही क्षीण आत्म बल होता है होने दो,
यह भी रण कौशल है रिपु को बिना लड़े रोने दो।

पहले हिय के हवन कुंड को दाहक द्युति देनी है,
फिर रण चंडी को राघव की पूर्णाहुति देनी है।

लगा लाल चंदन ललाट पर तन में भष्म रमालूं,
स्वार्थ और पुरुषार्थ प्राप्त करके परमार्थ कमा लूं,

इतना सोच खुला मायावी छिपा मेघमाला में,
रण प्रांगण को छोड़ गगन से गया यज्ञशाला में।

शस्त्र सज्ज काले कपड़े को डाल कवच पर पैठा,
कड़े पहिन लोहे के आसन पर मायावी बैठा।

मदिरा मुग्ध लाल आँखों को मूंदे हुए पलक से,
लेकिन जब तब जाते दृग के रक्तिम पात्र छलक से।

लगता जब संध्या की लाली चूम गयी मरघट को,
अथवा झलका रुधिर रिक्त कर कुछ कुछ घर्षण घट को।

सम्मुख थी होमाग्नि बहेड़े की लकड़ी जलती थी,
अन्दर आग लगी बाहर की आँच नहीं खलती थी।

रक्त और घृत भरे स्रुवा को ढरका बारी-बारी,
स्वाहा स्वाहा बोल तोलता था तप को व्यापारी।

सम सुगंध दुर्गंध संधि का अंध बंध, आराधन,
रण का व्रती रुधिर का ऋत्विज करता था शव साधन।

मेघनाद के मन के वन का दहका दावानल था,
लगता लंका के सागर का बहका बड़वानल था।

मन में था अभिलाष हाथ से छोड़ रहा साकल था,
मुँह में राम बगल में छूरी साधु वेष का छल था।

रुधिराचमन किया फिर सुस्थिर हुआ नारियल फोड़ा,
मेघनाद ने जीवित बकरा हवन कुंड में छोड़ा।

उठी लपट सिर से ऊपर थी धुवां गगन में छाया,
जैसे ज्वाला मुखी फटा हो जो पहले थर्राया।

वातावरण अशुद्ध युद्ध का क्रुद्ध भाव था उर में,
सुर का अनुष्ठान जागा था वन उद्वेग असुर में।

जैसे लगी अशोभन के हाथों में गति अभिरामा,
अथवा स्वेत-वसन धारण कर नाच रही हो श्यामा?

मल से यथा अमल का होता मल्ल युद्ध न्यारा हो ,
शांति पाठ करने को बैठा जैसे हत्यारा हो ।

या पर-द्रोही परोपकारी बन करके छलता हो ,
अथवा पीछे लगा भूत आगे-आगे चलता हो ?

तंत्र-मंत्र-विद् बहुत पुरोहित आस पास बैठे थे ,
यज्ञांबुधि में सभी साथ पावक बन कर पैठे थे ।

सब मिल करके संग बोलते समिधा लेकर स्वाहा ,
और उछल पड़ते रह-रह कर कह कर आहा-आहा ।

उठा-बैठकी के ऊधम में ध्वंश धर्म-धारी था ,
साध बनी साधना और अर्चन आपत कारी था ।

वीर-शिरोमणि लक्ष्मण का आतंक-अंश अंतर में ,
बाहर बना निशंक लंक-पति-सुत जादू-मंतर में ।

'ह्रीं-ह्रीं हुंचम-मुंचम' साबर के स्वर बोल रहे थे ।
भय की ग्रन्थि अभय के कृत्रिम-कर से खोल रहे थे ।

तापसमन मल, सजल साध-सर अमल कमल अर्पण था ,
जैसे मृतक-क्रिया कर करता क्रियावान तर्पण था ।

रावणि भग्न-मनोरथ उतपाती से था उद्योगी ,
समर-विमुख सम्मुख यज्ञानल के योद्धा से योगी ।

प्रति-हिंसा की कोप-शिला पर गयी ज्ञान-असि घिस थी ,
पूजा की प्रक्रिया पराक्रम के अर्जन के मिस थी ।

यह सकाम-साधना सर्प-सी दर्पयुक्त घातक थी ,
पुण्य पताका विषम वायु को पढ़ा रही पातक थी ।

यश में अयश वीरता में कायरता का मिश्रण था ,
अपने-आप अपूत छाप ले पाप बन गया प्रण था ।

जैसे कुंठित हुए खड्ग का मर जाता है पानी ,
अथवा अधम-अभीप्सा फलती नहीं कभी कुम्हलानी ।

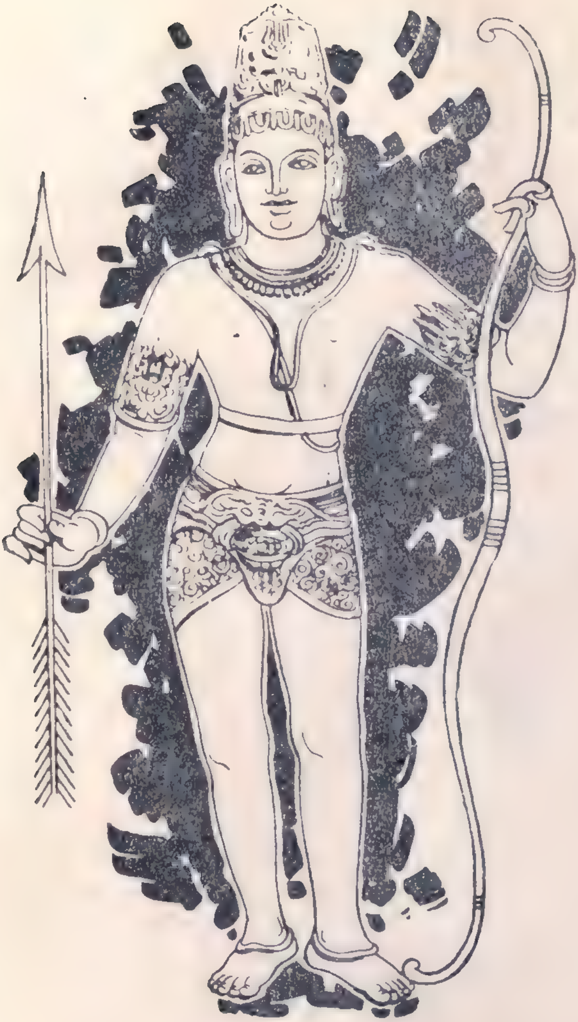
पर-पीड़न के लिये होमना हवन-कुंड में समिधा ,
है पाखंड, खंडशः चिंतन नहीं साधना सुविधा ।

जैसे बगुले का ध्यान मेढकों का सामगान,
जैसे मछली का स्नान गूंगे का गुणानुवाद,

जैसे देवता-विहीन सूने सभा-मंडप में,
बार-बार हार-हार करे कोई शंखनाद।

जैसे अभिनेता के विविध हाव-भाव या कि,
मंच का प्रपंच रंच नेता का समाजवाद,

बूंद नहीं वज्र को गिराने के लिये ही वैसे,
आंख मूंद करता था अंधकार मेघनाद।।



तैंतीसवां सर्ग

जागे जगदाधार राम जाग्रत हो उठा शिविर था,
कुल देवता दिखाने को मुख उत्सुक छँटा तिमिर था।

स्नान ध्यान से हो निवृत्त आ गये जहां सेना थी,
उधर जलधि जलराशि सुमनवत् उठा रही फेना थी।

मेघनाद का गूंज रहा था धरती ध्वंश धड़ाका,
लंका गढ़ पर उड़ती थी अब तक दसमुखी पताका।

अनुज सजे पहले से आतुर खड़े वीर बाने में,
जैसे जीव जोहता जागृति आत्मा के आने में।

किष्किंधा पति पवन पुत्र ऋक्षेश बालि सुत अंगद ,
रहे विभीषण भीषण योद्धा प्राणों की बाजी बद ।

सम सीतोष्ण वायु-मंडल था मलयानिल बहका था ,
राघव के अंतर तम का अंगार और दहका था ।

जिसका तेज चढ़ा आनन पर सहसा सहसानन के ,
चका चौंध में झलके कांटे निकुंभिला कानन के ।

क्रिया प्रतिक्रिया दोनों से जो वातावरण बना था ,
वह निर्णायक महा समर का लेकर तीर तना था ।

बोले मर्यादा पुरुषोत्तम 'आहत अज्ञ नहीं है ,
मेघनाद की युद्ध योजना है यह यज्ञ नहीं है ।

जो पूजा की ओट बिछाता गोपन गोट कलुष की ,
अंगारों को लील फेंकता द्युति चकोर चक्षुष की ।

साधक नहीं विजय में बाधक आराधक मायावी ,
वह होना चाहता चाल से हम लोगों पर हावी ।

'सत्य वचन रघुनाथ' विभीषण नत मस्तक हो बोले ,
'नभ में जो अदृश्य वह यज्ञागार द्वार हैं खोले ।

प्रकट जहां पर प्रतिद्वन्दी है होता वहीं समर है ,
यज्ञभूमि ही युद्धस्थल हो विक्रर ब्रती विषधर है ।

ध्वंश योग्य वह यज्ञ जहां बध के विधान बनते हैं ,
रंग महल में घुसा सांप हो उसको भी खनते हैं ।

आज्ञा दें श्री राम अनुज के साथ स्वयं मैं जाऊं ,
निकुंभिला के अनुष्ठान को विघ्न डाल बिनसाऊं ।

रावन सुत योद्धा से बन कर साधु अगर निकलेगा ,
और खलेगा खल मल निर्मल मन को और छलेगा ।

यज्ञ विध्वंश अपेक्षित अब है मुनि मख के रखवाले ,
दांत तोड़ते हैं दंती के दर्शन देने वाले ,

बांह समेट विभीषण ने फिर अपनी गदा उठा ली ,
कहने लगे कि 'जिसके बल से बाहु बना बलशाली ।

उसका हो संकेत साथ हो अप्रतिम ओज अनुज का,
दमन सहज संभव है राघव दलन देवरिपु रुज का।

सागर का सानिध्य और आसन पर्वत का टीला,
राम चन्द्र का रूप हो गया गहन गगन सा नीला।

और विभीषण को विस्मित हो देखा तनिक तिरीछे,
खोले जटाजूट की लटकी लट को फेंका पीछे।

देव शत्रु दुर्दान्त इन्द्रजित तप कर यज्ञानल में,
और हो गया होगा पटु, कटु भाषण में छलबल में।

यद्यपि उसके दलन बिना दसकंधर दलन न संभव,
लगता है तथापि रुधिरांजित है प्रति पक्ष पराभव।

बन्धु विभीषण मैंने अब तब योजित यज्ञ बचाया,
यज्ञ विराधी यातुधान जो उनको मार गिराया।

अब याज्ञिक से युद्ध विलक्षण विधना की रचना है,
किन्तु आ पड़ी जो सिर पर है उससे कब बचना है ?

कर उठता है अनचाहे अभियान वीर बरबस है,
सूखे में भी कभी विरोधाभास छिड़कता रस है।

जिसने तोड़े ऐरावत के दांत बज्र को छीना,
निशा युद्ध में किया हमारा जिसने दुर्लभ जीना।

वह मायावी कूट युद्ध का योद्धा वारिद-गर्जन,
और प्रबल प्रतिभट बनता बन द्वैत विसर्जन सर्जन।

देव-दैत्य से बंदित नंदित निकुंभिला का योगी,
योग साधता जब बनने को और प्रबल प्रतियोगी।

तब उसके घमंड को करना खंड-खंड ही रण है,
अथवा अनायास ही हो जाता बलि बधू बरण है।

यह सब सच है किन्तु न जिसका भरा वक्ष का व्रण है,
इस अग जग में वही अकेला अनुज सगा लक्ष्मण है,

उसको दबा दैत्य मुख में पत्नी बिछोह को पाटूं,
बाएं के बदले में अपना हाथ दाहिना काटूं ?

यह रण नीति न राजनीत है, काम बड़ा है खोटा ,
जय का यश ले बड़ा जूझने को जाये तो छोटा ?

यह मेरी बाजी है प्रण पण पर जो लगी हुई है ,
कहा लक्ष्मण ने मुँह मांगी साँगी सगी हुई है।

मेरे उर को बेध ध्वंश, जो बनता धन्वंतरि है ,
मेरा प्रतिद्वन्दी है प्रभुवर वह तो मेरा अरि है।

मुझको छोड़ और का लेना मेघनाद से बीड़ा ,
मेरा है अपमान असह मेरे अंतर की पीड़ा ,

रामानुज के मुख पर सहसा ओज उभर आया था ,
जैसे अंशुमाल पहिने अंभोज उभर आया था।

बांहें फड़क रहीं थी अधरों के पुट फड़क रहे थे ,
अपने से तनी कमान तीर तरकस के खड़क रहे थे।

आनन था अंगार विनय की चढ़ी विभूति असित थी ,
लगता पहली दिशा उषा की अब तक निशा ग्रसित थी।

रूप तमतमा उठा कि जैसे उदय-काल का नभ हो ,
बातावरण वीरता पूरित कहता समर सुलभ हो।

निश्चल-भाव राम बैठे थे दृष्टि अनुज के मुख पर ,
जैसे ध्रुव नक्षत्र फेंकता आभा दृग सम्मुख पर।

मुस्काये कुछ उबरे जैसे असफलता से ऊबे ,
फिर गहरे विचार सागर में सगर-वंश-रवि डूबे।

शांत हो गया शौर्य धैर्य की सीमा उल्लंघन कर ,
पवन पयोधि पराक्रम क्रमशः स्थिर थे स्तंभन पर।

सन्नाटे का शीत-प्रात जम कर थम गया गगन पर ,
वानर भालु अनल के आखर चित्रित ज्यों चंदन पर।

इस द्विविधा को बेध कहा कपिपति ने 'यही परीक्षा ,
करनी होगी हमें समर की धर कर धीर समीक्षा।'

'किष्किंधापति बनी विजय में मुख्य यही बाधा है ,
कहा राम ने हनमान तक को जिसने बांधा है।

जिसने तिमिर समर में छेंकी विशिख ज्वाल से सेना,
उससे कठिन अकेले लक्ष्मण का है लोहा लेना।'

'जो अपने अतिशय-प्रिय उनके प्रति चिन्ता का होना,
स्वाभाविक है वानरेन्द्र ने कहा न सस्ता सोना।

जो अचिन्त्य वह चिन्तनीय के लिये अचल आश्रय है,
सागर का अपनी तरंग से होता कभी न भय है।

रामानुज हैं लखन न केवल मनुज मात्र साधारण,
दग्ध न होता, करता जो बादल विद्युत को धारण।

रात्रि-जागरण कर वर्षों तक कंटक, पथ अपनाया,
विस्फोटक व्यक्तित्व बन गया जिससे तपातपाया।

सच्चरित्र, साहसी समरप्रिय सेवा व्रत धारी जो,
है विशेष अवशेष, सृष्टि का धर्म, धरा धारी जो।

सरल तरल तारुण्य तरंगित जीवन के जलनिधि में,
प्रलय दबी है अनल-वलय बन पारावार परिधि में।

आप साथ होंगे उनके जो जोड़ बनेगी बाकी,
पूरी शक्ति प्रस्फुटित हो यदि अनुज लड़े एकाकी।

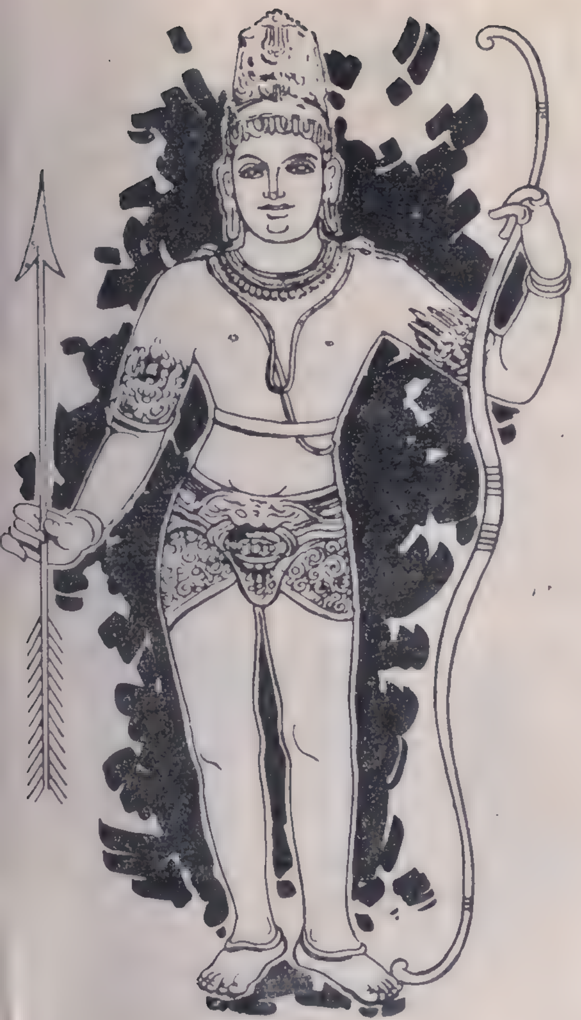
स्वावलंब युद्धस्थल में मैं देता बढ़ कर चोटें,
कभी समर में पड़ जाते हैं अगर अकेले छोटे।

युक्ति-युक्त यह उक्ति सुहृद सुग्रीव सखा संकट के,
मर्यादा पुरषोत्तम जाते जिससे कैसे हट के?

बोले 'अनुज तुम्हारे आनन का अरुणाभ उजाला,
मांग रहा है रण चंडी से आतुर हो जयमाला।

यह आग्नेय-उमंग तुम्हारी शीतल मोह हमारा,
मंगलमय हो बंधु विभीषण के विवेक के द्वारा।

गूढ़ रामचन्द्र के वचन सुन के सहेज उर में उन्हें सतेज भाव से भरे हुए,
छोटे लंकापति के लखनमुख देख घाव बड़े लंकापति ने लगाये जो हरे हुए।
चढ़ी भौंह की कमान देख चढ़े धनु-बान जो थे हुए शिथिल उदास उतरे हुए,
चले रामानुज दिखे आखर लहू से लिखे लंका की विजय की भूमिका के निखरे हुए॥



चौंतीसवाँ सर्ग

'आहत सिंह चाहता रण प्रतिद्वन्दी से तत्क्षण है,
रावण का बेटा रावणि है कहां ? यहां लक्ष्मण है ?'

कौशलेन्द्र पद-स्पर्श हर्ष से बोल उठे रामानुज,
अविरल अधर स्फुरण क्षण-क्षण पर फड़क उठा दक्षिण भुज।

तना शेष-फण-सा समक्ष था वक्ष राक्षस रोधी,
पंकज ओज, पराग पराक्रम भ्रमर समर का शोधी।

साहस की सुगंधि से पूरित सदाशयी वेला थी,
आत्म-तेज उद्दीप्त और रण-व्रण की अवहेला थी।

पद-प्रक्षालन-शील सरोवर जिनको तरनि तनूजा,
अग्रज की रज लगी माथ में हाथ आ गयी पूजा।

जिनको है कर्तव्य सुलभ दुर्लभ अधिकार रहा है,
ऐसे वीरव्रती का तिनका भी तलवार रहा है,

बोले शेष-सनातन तन, 'इतना बस बंधु विभीषण,
मुझे बता दो कहां तप रहा भीरु भक्त बन भीषण ?

जिसमें सैन्य व्यूह से रक्षित हो जो आहुति देता,
बना पुरोधा कहां छिपा मायावी वासवजेता ?

बैठा कहां होम करता तमतोम किरण-माला से,
लघु लंकापति कहां उठ रहीं लपटें मखशाला से ?

बोले दसमुख-अनुज आप सब भाँति समर्थ सयाने,
अजर अनुज क्या दक्षिणभुज हैं प्रभु के जाने-माने।

यज्ञभूमि तक किन्तु पहुँचना तब तक बहुत कठिन हैं,
जब तक खड़ा सामने उर्वर बैरी-व्यूह विपिन है।

इसको काटो छांटो पहले तब तो राह मिलेगी,
अब लो तट से निपट बाद में तल की थाह मिलेगी।

खड़े सामने दर्पदीप्त काया ले मायावादी,
सैनिक सेनाधिप, संवादी षादी और निषादी।

विस्मय विग्रह औ' आशंका से लंका के रक्षक,
लक्ष्मण एक परीक्षित तत्पर हैं अनेक पर तक्षक।

धूलि धरा पर अंतरिक्ष घूमांध कि वारिधि बाढ़ा,
सहसा घुमड़ा घनमंडल हो गया गगन भी गाढ़ा।

अंध उमस आतंक अंक में पड़ा बाल-रवि जागा,
लक्ष्मण का उद्दंड पराक्रम व्योम, वीर-रस पागा।

चले तीर नीचे से कुछ ऊपर से बूँदा बांदी,
लोहू औ लोहे पर जैसे चढ़ी सफेदी चांदी।

रामानुज ने भुजदंडों को तोल तीर को ताना,
लंका भेदी के इंगित पर साधा गया निशाना।

दायां बढ़ झुक गया तनिक बांया भी वक्र चरण था,
छूटा पहिला बाण और आरंभ हो गयां रण था।

बिजली चमकी घन घमंड में उबल बना पानी था,
नीचे ध्वंश-वंश धरती पर करता मनमानी था।

ऊपर बादल गरज रहे थे नीचे थे जयकारे,
पुरुष प्रकृति को प्रकृति पुरुष को रह रह कर ललकारे।

हनूमान अंगद गवाक्ष नल-नील शरभ सक्रिय थे।
रजनीचरी अनी उमड़ी पर प्राण सभी को प्रिय थे।

उल्का-मुखी बाण, लक्ष्मण के रह रह छूट रहे थे,
उधर वज्र के पिंड गगन से गिर गिर फूट रहे थे।

हनूमान ने इधर हांक दी अंगद उधर अड़े थे,
जो थे अब तक खड़े निशाचर-स्तंभ हिले उखड़े थे।

लक्ष्मण का आग्नेय विषम शर चढ़ा और फिर छूटा,
रक्षापंक्ति विदीर्ण हो गयी और पाप घट फूटा।

जैसे सिंह झपटता हाथी पर या बाज विहग पर,
जैसे फूट प्रपात निकलता शिला तोड़ हिमनग पर।

जैसे दावानल जंगल में जैसे किरण कलुष में,
जैसे चढ़ी बाढ़ पानी में जैसे लचक धनुष में।

लक्ष्मण रक्षा दुर्ग तोड़ कर आगे बढ़े अकेले,
पीछे से वानर सेना के थे रेलें पर रेलें।

निकुंभिला मखभूमि अभी तक केवल वनस्थली थी,
छिड़ा तुमुल संग्राम बन गयी अब वह रणस्थली थी।

तोमर मुग्दर शूल और शर फेंक रहे थे गोले,
खीझ खीझ अपनी असफलता पर निशिचर भट बोले।

'मनुज मात्र केवल उतपाती पूरे वानर दल में,
आगे बढ़ो फेंक दो इसको जलते यज्ञानल में।,

सहसा छूटे विशिख कान तक ताने दक्षिण भुज के,
आयुध चले विविध बिछले सब लग लग रामानुज के।

'यज्ञानल आगे है' का संकेत समझ रामानुज,
'ठहरो यहीं' कहा संशय निशि में छिप गया मुखाम्बुज।

शूर शिरोमणि लक्ष्मण का पल भर का मौन विदित है,
बोले 'यज्ञस्थल में घुस कर के लड़ना अनुचित है।'

अंगद हनूमान की कुछ भी नहीं समझ में आता,
कहा विभीषण ने 'मैं अरि को बाहर अभी बुलाता।'

"दौड़ो जान जा रही जो कुछ रखी उधार बची थी,
इन्द्रजीत हा इन्द्रजीत हो कहां" गुहार मची थी।

मायामयी पुकार विभीषण को यह होती मंद न,
अकुला उठा दशानन-नन्दन तज कर पूजन-वंदन।

यज्ञ भंग हो गया कि कांटे से कांटा निकला था,
राक्षस-कुल से लिया गया माया-मृग का बदला था।

सुधा समिधा को फेंक छेंक यज्ञद्वार खड़ा,
गदा को घुमाता मेघनाद वज्र के समान,

लघु रघुबीर को दिखाते लघु लंकापति,
ऊँगली उठा के यज्ञ भूमि में गड़ा निशान।

बोले 'यज्ञ-यूप के समीप कूप के जो पास,
बट का गड़ा है वृक्ष बलि का वहीं विधान,

वहां जा न पाये देव-शत्रु ऐसा हो उपाय,
फेंको बिना फर के ही राम-बंधु एक बान।'

बिन फर बाण चला लक्ष्मण का तेज पुंज निखरा था,
मेघनाद का दृष्टि-बिंदु विस्तृत हो कर बिखरा था।

ध्यान बँट गया चकित मुखाकृति फैल बन गयी फीकी,
रामानुज थे जान गये द्विविधा प्रतिभट के जी की।

मुस्काते आ गये सामने प्रातः उगते रवि से,
उछल पड़े कुछ और हौंसले बढ़े हवन की हवि से।

मेघनाद ने घूरा फिर पड़ गया आँख को मलना,
सोच रहा था अरुण-प्रभा सी यह छवि है या छलना!

हाथ जुड़ गये अपने से ही गत संग्राम अतः था,
मेघनाथ का आतंकित-सा सिर झुक गया स्वतः था।

तब तक रामानुज समीप आ बोले 'पावक-कण हूँ,
मेघनाद मैं मरा न देखो जीवित हूं, लक्ष्मण हूं।'

'लक्ष्मण' ध्वनि-कण रावणि के उर में चुभ गये विशिख से,
स्वेद-बिन्दु बन कर विकार सब निकल पड़े नख-शिख से।

विहँसे लघु रघुवीर कहा 'लगता न दिख रहा पथ है,
मेघनाद, वह कहां तुम्हारा माया-मंडित रथ है ?

लंका के युवराज आज तो टीका तिलक लगाये,
कवच पहिन हथियार हाथ में सैनिक-व्यूह बनाये।

यज्ञ-भूमि में भी यद्यपि आए हो आयुध-मंडित,
आग जला, कर रुधिर आचमन, खंडित मख के पंडित।

रागी, वैरागी है या अनुरक्त विरक्त बना है,
ओढ़ भेड़ की खाल भेड़िया बरबस भक्त बना है।

जाओ प्रति-भट छोड़ कटक के कटने की शंका को,
'युद्ध-विराम' रथी बनने को भग जाओ लंका को।'

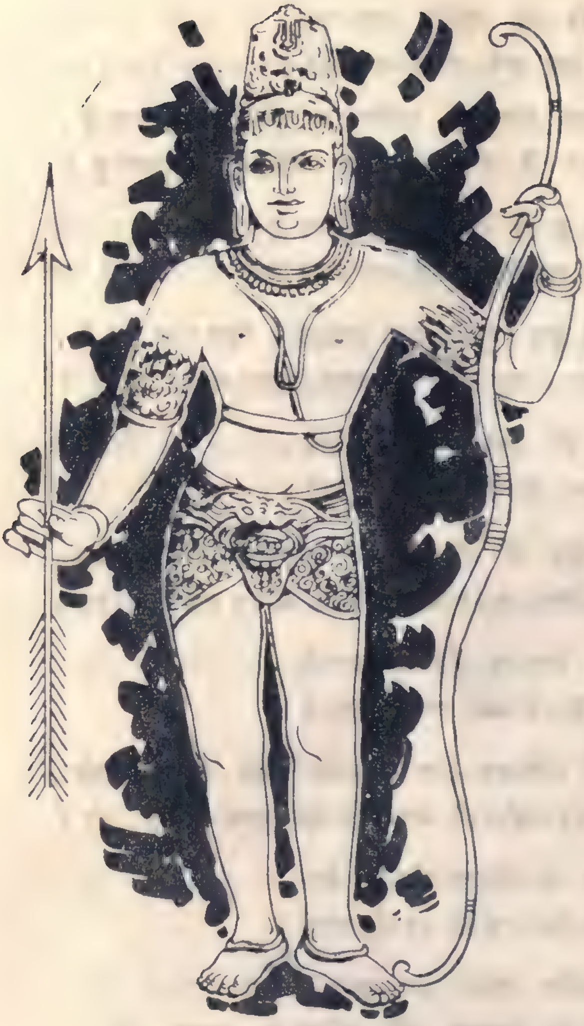
कह कर के उर्मिला, कांत ने प्रमिला-पति को प्रेरा,
मेघनाद ने सोचा कुछ फिर पीछे को मुँह फेरा।

जैसे लौटती है जल राशि, राशि जल जात–
वैसी उत्पात की भयावनी उतार थी,

याकि खौलता है लावा लौट जैसे ज्वाला-मुखी–
फोड़ के पहाड़ आपदा में आर-पार थी।

मेघनाद सम्मुख से विमुख हुआ तो और–
पैनी हुई प्राण काढ़ लेवा तलवार थी,

बोला जाते-जाते इन्द्रजीत 'अभी लौटता हूं–
दोनों रूप धारे प्यारे रथी और सारथी।'



पैंतीसवाँ सर्ग

जैसे ज्वाला-मुखी फूटता पहिन लपट की माला,
लंका-पथ पर दिखा रम्य रथ वैसे ही द्युति वाला।

जिस पर था सवार योद्धा सज्जित उसके आयुध थे,
बजा रहे रण-बेणु राक्षस औ' दुंदुभी विबुध थे।

देव-दैत्य दोनों का बल ले धायमान दानव था,
इधर अकेला वानर दल को लिये खड़ा मानव था।

मानव-दानव का अद्भुत संघर्ष तुमुल छिड़ना था,
जो अन्दर हो रहा उसी को बाहर हो भिड़ना था।

असुर और सुर-शक्ति समन्वित दर्प-पूर्ण दानवता,
सब कुछ मिला न मिली मगर माध्यमिक मधुर मानवता।

इस अभाव का घाव देव-रिपु लौह-कवच से बांधे,
लक्ष्मण के ललकार-भार को सिर उतार कर कांधे।

तंत्र-मंत्र से कसी साज थी बाज बन रहे घोड़े,
उड़ते से दिखते थे, ऐसे दौड़ रहे दम तोड़े।

रथी-सारथी दोनों की कर्तव्य-कशा की चोटें,
देता, वारिद नाद बिछाता आता गति की गोटें।

एक हाथ में शूल दूसरे में रथ की डोरी थी,
जीवन से कर रही मौत छिप-छिप कर बरजोरी थी।

मेघनाद आगे था जिसके लगते जयकारे थे,
पीछे रथ गज तुरग पदादिक सारे के सारे थे।

तिनके भी छू रहे गगन थे वह आँधी आयी थी,
जैसे जल की धारा बूंदों से बाँधी आयी थी।

इधर विभीषण लगे कान में केवल, सब चुप साधे,
अगल-बगल में व्यूह बना कर वितरित आधे-आधे।

ओज-ऊर्जा में थोड़ा सा जो कुछ मैल रहा था,
रामानुज का तेज प्रफुल्लित हो कर फैल रहा था।

कभी-कभी सिर हिला बात सुन रावण के भाई की,
तोल लिया करते थे तप से गरिमा तरुणाई की।

फड़क उठा करती थीं बाहें औ' तरकस में तीरें,
माथे पर बन गयी लक्ष्य की जो थी लगी लकीरें।

मन कहता था मर्यादित हूं कभी नहीं हारूंगा,
और अमर्यादित प्रतिद्वन्दी को निश्चित मारूंगा।

आतुर खड़े रणप्रिय लक्ष्मण घाव लिये छाती पर,
आँख लगी थी अजित कहाने वाले उत्पाती पर।

रथारूढ़ रिपु, रथ समीप आ गया दृष्टि पथ रोधी,
लक्ष्मण का लावण्य बल उठा शत्रु-व्यूह-बल शोधी।

लगा उदित रवि सहज नयन छवि ऊषा उतार रहा है,
पहिन धूप परिधान प्रखर दिनमान निखार रहा है।

मेघनाद को परछाईं पर पटक पछार रहा है,
जैसे उदयाचल बादल का काजल पार रहा है।

'अभी वार मत करो' विभीषण बोले 'वीर विकट है,
जब तक मेघनाद मरघट के आता नहीं निकट है।

जहां भूत-बलि देकर करता सिद्ध मंत्र मायावी,
वर्तमान पर छा जाता है बना भयावह भावी।

जैसे ही रथ रुके घेर पथ हम अरि को ललकारें,
उसका रुख फिर जाय समझ लो जो जीते हैं हारें।

आप रहें सन्नद्ध सामने मैं पहिले जाऊँगा,
घर का भेदी, झुकी बैर की बाती उकसाऊँगा।

किन्तु आप का तना शरासन रहे न तीर उतारें,
मैं घिर जाऊं अगर मौत से रक्षा करें उबारें।'

इतना कह कर चले विभीषण लेकर गहन गदा को,
जैसे चले बवंडर पाकर विषम वायु विपदा को।

वानर सेना की जय-ध्वनि के नभ में बजे नगाड़े,
उधर भांजने लगे निशाचर लेकर मुग्दर खांड़े।

मेघनाद के पड़ी कान में भनक विभीषण आए,
छोड़ भूत-बलि लगा देखने मुड़कर दाएं बाएं।

देखा दूर विभीषण चाचा को सारा बल छीजा,
और संतुलन को खो बैठा था धननाद भतीजा।

रथ से कूद गदा मुग्दर को दोनों हाथ घुमाता,
दौड़ा दसकंधर का बेटा वीर-बाहु का भ्राता।

बोला ऊँचे स्वर से ऊंचे-पद-मद का अधिकारी,
'काका जी की काक-वृत्ति लोलुप बन गयी शिकारी।

नद-बुद-बुद का तिलक और बालू की लंका भी दे,
घर के भेदी चुल्लू भर पानी में गये खरीदे।

बन कर बड़े चड़े हम सब से जिसने पैर छुआया ,
अग्रज का पद स्पर्श असह बन गया भाग कर आया ।

उसे कहूं पितृव्य द्रव्य पर देश बेंच दे जो जा ,
यातुधान का स्वाभिमान तज भिक्षुक नर को खोजा ।

बार-बार धिक्कार छोड़ परिवार पैर पर पर के ,
पड़े और फिर गड़े आँख में, तिनका बन कर खर के ।

नहीं अवध का किंचित धन व्यय मरा न एक सिपाही ,
फिर भी जिसने लंका में दे आग लगा दी स्याही ।

गयी राम को यद्यपि तुझसे अधिक चोट पहुंचायी ,
वनवासी बन गये भले ही लड़े न भाई-भाई ।

अब भी आंख न खुली देखता निशि दिन मायावी नर ,
भाई-भाई फोड़ लड़ाता वानर और निशाचर ।

तुम उसके ही कान फूंकते जिसके पग छूते हो ,
अपने लिये अमर पथ उसके कौतुक को कूते हो ।

पर पद-चापी पापी मन ले हो परिवार विमुख से ,
देशद्रोह की आती है दुर्गंध तुम्हारे मुख से ।'

'समर भूमि में जीभ न चलती चलती हैं तलवारें ,
कहा विभीषण ने 'बेटा लड़ कर जीतो तो हारें ।

पौरुष का पारखी वही जिसने प्रतिभट को मारा ,
बात न करती घात कि जिससे बहे रुधिर की धारा ।'

'तो फिर बात भ्रात की तुमको लगी तीर-सी कैसे ,
नख सिख विष से भरे, धरे हो फिर जैसे के तैसे ।

बात बड़े की सह न सके रिपु की पद-रज पर लोटे ,
बातों से, वासव जित बोला 'खरे बन रहे खोटे ।'

'बात नहीं थी लात घात थी जिससे बने पराये ,
भागे नहीं, विभीषण बोले 'हम थे गये भगाये ।

देश-प्रेम के लिये देश से गये और दुतकारे ,
भागे तो भगवान मिल गये जागे भाग्य हमारे ।'

कह कर लघु लंका पति ने उठ रही लपट उकसाया ,
मेघनाद ने दिया न उत्तर रथ से धनुष उठाया ।

दशकंधर कुमार ने मारा पहिला बाण अनल का ,
रामानुज ने जिसे बुझाया विशिख जोड़ कर जल का ।

आग और पानी की अद्‌भुत जब छिड़ गयी लड़ाई ,
वायु-बवंडर बादल-बिजली ने की और कड़ाई ।

प्रकृति परुष बन गयी पुरुष का पौरुष पथराया था ,
रचनाकार विरत रचना से होकर घबराया था ।

ध्वंश-ध्वंश विध्वंश दंश का विष चढ़ गया विषम था ,
लंका में लगता जैसे उतरा योद्धा बन यम था ।

खंड-खंड हो बिखरा असफल भू पर असुर फलक था ,
रामानुज का या कि मनुज का खर-शर रहा झलक था ।

एक बार ही तीन तीर छूटे फुफकार चले थे ,
लक्ष्मण के उन्नत ललाट पर लग करके फिसले थे ।

फिर भी घाव कर गये तीनों सीधे दाएं-बाएं ,
बिंधे भाल से लाल रुधिर की बहीं तीन धाराएं ।

पड़ी मनुज को थी बलि-विस्मित विभा दनुज को देनी ,
जैसे अरुण बाण अनुरंजित रविकृत किरण त्रिवेणी ।

उग्र उर्मिलाकांत किंतु सामान्य सुकर साधन था ,
तीर्थराज-सा पावन मन था अक्षय-बट-सा तन था ।

आहत मस्तक शूर-शिरोमणि लक्ष्मण का उस क्षण था ,
लगता जैसे जवा-कुसुम का बींधा लाल सुमन था ।

'मुझको दो उतार कंधे से' बोले शेष-सनातन ,
तजो पुरातन प्रथा यथा अब द्वंद-युद्ध अधुनातन ।

इस मायावी महासमर में मिलता सही न पथ है ,
सुनो पवन सुत, मेघनाद से बढ़कर उसका रथ है ।

उस रथ को कर व्यर्थ चाहता विरथ रथी प्रतिभट हो ,
पैदल-ही द्वन्दी प्रतिद्वन्दी का संग्राम विकट हो ।'

समझ गये संकेत वायु-सुत ने मधु-भार उतारा,
उछले ऊपर गदा घुमायी अरि-दल को ललकारा।

रामानुज ने एक तीर से बेधा उर चालक का,
और दूसरे से छेदा सिर प्रथम-पंक्ति-पालक का।

मेघनाद ने स्वयं साध ली शिथिल रास घोड़ों की,
अनियंत्रित हो गये पगों में गति न मगों-मोड़ों की।

दबा पैर में धनुष छोड़ता था खर-शर दाएं से,
और नियंत्रित करता था यंत्रित रथ को बाएं से।

अधकचरा सारथी समझ कर के अपने मुंह मोड़े,
नाच उठे मंडलाकर परि-वृत्त बना कर घोड़े।

व्यंग विभीषण बोले 'लगता नर्तक खर नाधे हैं,
साधे एक न सधा पुत्रवर दो-दो को साधे हैं।

रथी-सारथी साथ-साथ राजा भी और रिआया,
कहो भतीजे सम्मुख रण में भूल गयी सब माया?'

मेघनाद सह सका नहीं पितृव्य व्यंग तीखा था,
बोला 'मैंने नाच नचा कर दुनिया को सीखा था।'

इतना कह कर गदा फेंक कर मारी भारी भीषण,
रामानुज की ओट चोट के डर से छिपे विभीषण।

इतने में ही शरभ प्रमाथी रसभ गंधमादन ने,
आंख मिलायी, मूल-मंत्र को साधा अनुवादन ने।

चारो वानर वीर घूमते रहे घेर स्यंदन को,
आसमान में उछले बुत्ता दे दशरथ नन्दन को।

कूद पड़े चारो घोड़ों पर मेघनाद के रथ के,
जैसे मंदर-बंदर कूदे संगर सागर मथ के।

मरने से पहिले घोड़ों ने मुंह से खून उंडेला,
अस्त हो गया व्यस्त अश्व बल अरि रह गया अकेला।

कूदा रथ से मेघनाद गरजा ज्यों वज्र गिरा था,
सुन कर जिसे विधाता भी बन गया वज्र बहिरा था।

दंड प्रचंड शूल मुग्दर नाराच त्रिशूल सँभाले,
शस्त्र-सज्ज हो नख से शिख तक उर का ओज उछाले।

रामानुज के सम्मुख आकर तीर धनुष पर तोला,
'उठ कर आये हो श्मशान से समर भूमि में, बोला।

'भूल गये दोनों भाई जब बिंधे हुए बाणों से,
यम के अतिथि बने थे मर कर विदा मांग प्राणों से ?

भीख मांग कर भूख मिटायी पैर दबा परके हो,
सिरकी बने पराये बल पर फिरकी से फरके हो ?

जिन हाथों ने ऐरावत के दांत तोड़ कर फेंका,
फिर उनको सुरनाथ पराजय के पावक से सेंका।

ऐसे भुज दंडों की खाकर मार न बच सकते हो,
ध्वंश-पटल पर अब अग्रज का अंश न रच सकते हो।'

'बस बस बड़े बोल से छिपता कभी नहीं छोटा पन,'
कहा लक्ष्मण ने 'सम्मुख हूं दिखा खरा खोटा पन।

शत्रु-जनित-संताप शूरमा सहते कभी नहीं हैं,
करने वाले कर दिखलाते कहते कभी नहीं हैं।

होता सिद्ध अभीष्ट न उसका जिसका मन काला है,
रजनीचर है घात रात में ही करने वाला है।

मैं सशरीर खड़ा हूं लाखों की आँखों के आगे,
छोड़ो बाण न, बड़े बने हो बली वीर रस पागे !'

मेघनाद तिलमिला उठा थी चोट तीर सी तीखी,
शक्ति चला दी प्रतिद्वन्दी के प्रति सर्पिणी सरीखी।

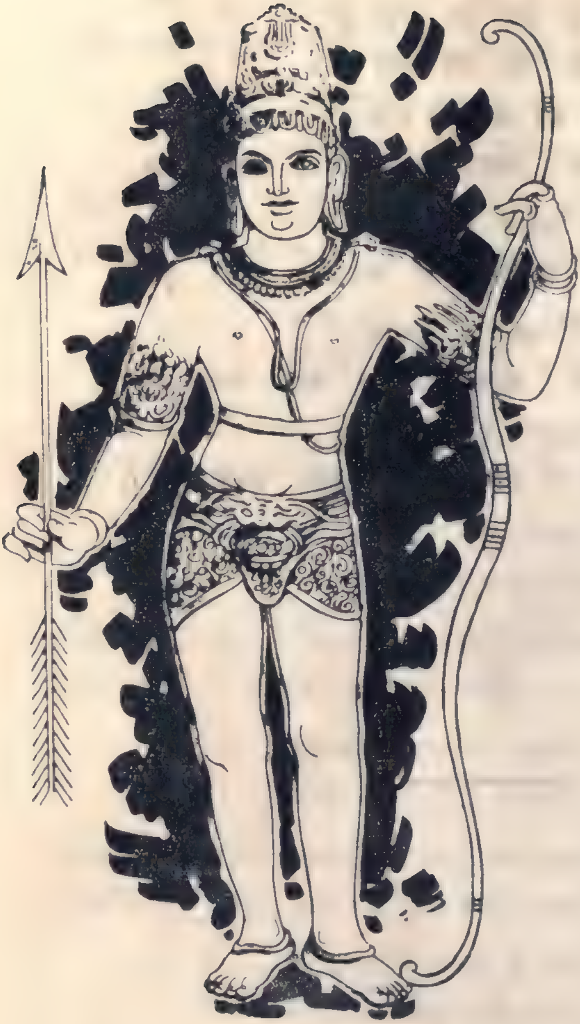
लक्ष्य विभीषण को पीछे कर अपने को कर आगे,
रामानुज ने प्रत्यंचा को तान तीर दो त्यागे।

किया एक ने शक्ति-शेल को झेल उसे यदि कुंठित,
तो दूसरे बाण ने तोड़ा कवच किया भूलुंठित।

रथ विहीन था रथी कि जिसकी कवच हीन थी काया,
सम्मुख रण में मेघनाद की नहीं चल सकी माया।

छोड़ गया मैदान विभीषण के मन की शंका को,
सेना को समझा रावण सुत रथ लेने लंका को।

भरे भद्र भाव रक्तस्राव को जटा से पोंछ,
उग्रता उतार मुस्कान भरते हुए,
ऐसा लगा जैसे तेज को सहेज शांत हुए,
सूर्य, चन्द्रमा को अंशदान करते हुए।
बैठ गये पास की शिला पै काढ़ के कृपाण,
उँगली लगा के देख शान धरते हुए,
युद्ध का विराम, लघु बंधु राम के ललाम,
मोद से विनोद से थकान हरते हुए॥



छत्तीसवाँ सर्ग

स्वर्ण कवच मंडित वक्षस्थल ले विग्रह के पथ पर,
मेघनाद लौटा आता था देख दूसरे रथ पर।

हनूमान ने चढ़ पर्वत पर बड़ी दूर तक ताका,
फेंकी पड़ी कंकड़ी केवल जो ले उड़ी पताका।

यह कौतुक शुभ शकुन देख कर दौड़े वानर भालू,
झंझा से झकझोर झुका कर झाऊ-वन झगड़ालू।

उछल पड़े नलनील विभीषण ने भी बर्छी तानी,
अंगद कूदे जामबान् तक में आ गयी जवानी।

समरारंभ हो गया लक्ष्मण राम समान हुए थे,
मर्दित मन भी उछले बाँसों छुद्र महान हुए थे।

रामानुज का अनुशासन अंगार लपट लीले था,
जैसे पांखें हिला प्रभंजन आँखें उम्मीले था।

थे सामने विभीषण करते इंगित अग्रज सुत को,
प्रेति-भट सा प्रतिविम्ब दिख गया इन्द्र-विजय-श्री-युत को।

बोला 'चचा चापलूसी ने मुंह पर मल दी मसि है,
समर भूमि सर है जिसका हर लहर चमकती असि है।

पलट गये बन सांप परिजनों को ही पहिले काटा,
फिर समाज को छोड़ देश के मुंह पर मारा चांटा।

देशप्रेम को बेंच लालसा की ले लूक रहे हो,
आक्रामक के साथ साथ अपना घर फूंक रहे हो।'

फिर गरजा कर अट्टहास छा गया क्षणिक सन्नाटा,
मेघनाद का व्यंग विभीषण ने कटूक्ति से काटा।

'कोरे कभी निठल्लेपन मे निकले, नहीं नतीजे,
मैं आया हूं युद्ध जोहने 'युद्ध देहि' भतीजे।

अपनों का जब लहू लरजता बन ललकार चुनौती,
करता है आवेश पराक्रम के घर में पहुनौती।

जहां व्यक्तिगत स्वार्थ सामने जनहित के आ जाये,
वहाँ उलझ कर अपने भी बन जाते सगे, पराये।

देशप्रेम यह नहीं कि केवल चाटुकारिता रत हो,
स्वेक्षाचारी राक्षस कुल तक ही सीमित जनमत हो।

देशप्रेम तलवार धार पर चलते उद्योगी हैं,
जो संतुलन साध सकते हैं सधे सिद्ध योगी हैं।

देशप्रेम के बल पर तुम रावण कुमार शासक हो,
रक्षक नहीं बने हो भक्षक तभी नहीं त्रासक हो।

जो परिवार रसातलगामी उसमें हाथ लगाना,
वैसे ही है जैसे गिरते घर में माथ लगाना।

ओछे असुर आचरण में ही महामना माया में,
जहां न भली कली खिल पाती कांटों की काया में।

दुराचार का दुर्ग जहां दुर्दिन में गया दरक है,
परिजन, पुर, जनपद, प्रदेश वह पूरा देश नरक है।'

मेघनाद ने गदा चला दी सीधी प्राण हरण की,
जिसे गदा से रोक विभीषण बोले 'जय लक्ष्मण की'।

लक्ष्मण की जयध्वनि सुन नीरद नाद चकित हो चौंका,
बचे विभीषण, रामानुज को मिला मजे का मौका।

एक तीर से कटे मुकुट में लगे किरीट कनक के,
और दूसरे से कर के कंगन गिर गये खनक के।

मेघनाद में बिजली सी कौंधी फिर लीन हुई थी,
आगे की गति पीछे लग कर दिशा-विहीन हुई थी।

पीछे मुड़ा, खड़ा रथ पथ पर देख चढ़ गया झट से,
वाहन बल से युक्त समझ कर मुक्त मरण संकट से।

बैठ वीर आसन पर तान के शरासन को,
बाँई आंख मूंद मेघनाद ने लिया था लक्ष्य,
दांई आंख को उघार देखा दिव्य शौर्य सूर्य्य,
और जो बचा था विश्व-कोष में हुआ अलक्ष्य,
मानवी पराक्रम प्रभा से स्तब्ध लब्ध-कीर्ति,
जीव जिसके हैं सभी शेष कीश भालु भक्ष्य,
दानवी कमान औ चढ़ा था अग्निवान देख,
देव कंपमान जो थे काल गाल के अभक्ष्य।

देख रहे उर्मिला-कन्त, उद्भ्रांत समर का रुख है,
सधा हुआ संग्राम सरल है योद्धा यदि सम्मुख है।

चुपके से नाराच निकाला पकड़ा अंगुलिपुट से,
धरा धनुष पर खींचा फिर जोड़ा था जटा मुकुट से।

देखा नहीं किसी ने कब छूटा पर तीर चला था,
तिरछा तिरछा मेघनाद का माथा चीर चला था;

समर-शास्त्री रामानुज ने युद्ध दोष को शोधा,
बनी रक्त चंदन की रेखा योद्धा बन पुरोधा।

टपका सिर से रुधिर बह चला बूंद बूंद कर नीचे,
मेघनाद ने माथा झटका खड्ग म्यान से खींचे।

बोले व्यंग विभीषण 'समझो संकट का संक्षेपन,
बलि के बकरा बने लगा कर लाल लहू का लेपन।

अब चढ़ जाओ यज्ञ-वेदिका पर जा इष्ट मनाओ,
कड़ुए कलुषित जड़ जीवन को चेतन मिष्ट बनाओ।

अपने घर की घात, बात ने विषम-बीज बोया था,
यातुधान युवराज संतुलन खो, खोया खोया था।

वैसे ही अंगद ने फेंकी शिला रुद्ध कर पथ को,
मेघनाद ने रोक दिया कुछ क्षण को बढ़ते रथ को।

बजरंगी ने भी दे मारा माथे पर बजरंगा,
मेघनाद हँस पड़ा बना भट है बोला भिखमंगा।

भाल पटल पर अटल लक्ष्य ले पहले देखा भाला,
चतुर चचा ने असुर भतीजे पर फिर फेंका भाला।

वानर भालु भील खस वनचर मनुज दनुज का रण था,
कार्य राम का अतुलित बल रावण का मल कारण था।

मेघनाद ने तान कान तक मारे बान विषैले,
जो धरती से छूट क्षितिज छूकर खगोल तक फैले।

सात बाण अंगद के मारे बीस पवन नन्दन के,
शत खर शर लघु लंका पति के आखर अभिनन्दन के।

लहू-लुहान ऋक्ष वानर वन पर्वत खोज रहे थे,
मेघनाद की मार कि भूधर हो भूदोज रहे थे।

प्रतिद्वन्दी के प्रति प्रहार उर उदर उरेख रहे थे,
रामानुज संयमित अभी तक कौतुक देख रहे थे।

थे श्लथ गात समर सहचर सब घात न सह पाते थे,
उखड़ रहे थे जड़ से झंझावात न सह पाते थे।

बाण चढ़ा कर डोर धनुष की खींच कान तक तानी,
सहसानन आ गये सामने सहसा उद्भट मानी।

समवयस्क दो अप्रतिम योद्धा सम-बल से लड़ते थे,
धूप छांह से सट कर हट आगे पीछे पड़ते थे।

दोनों के मंडलाकार कार्मुक काल दंडी थे,
दोनों के विष-विशिख आयु के खंडी बरबंडी थे।

कब कसते धनुदंड मूठ से बलि की बरजोरी पर,
कब तरकस से तीर निकलते कब धरते डोरी पर?

कब प्रत्यंचा तान कान तक पढ़ते मंत्र मरण का,
कब करते संधान और कब कौतुक प्राण हरण का?

विद्युत कण क्षण क्षण पर उड़ते करते क्षत विक्षत थे,
कब छूटते छिटकते कब थे कब गत थे आगत थे?

किसका कब किस पर किस विधि से बींधा बँधा निशाना,
कब किसका सिर उड़ा किस तरह? नहीं किसी ने जाना।

दोनों अमर समर-श्लाघी से शर मोचन करते थे,
मौत नाचती इठलाती थी पर सोच न करते थे।

फलक झलकते थे बाणों के पंख थिरकते फिरते,
लक्ष्यवेध कर रुधिर धार ले गिरते थे फिर तिरते।

बाणों की बौछार आंख में धुंध धुएं का परदा,
लगा न सके जो दाँव अलग वे उड़ा रहे थे गरदा।

ऐसे अधाधुंध में था मोतिया विन्द आंखों में,
लक्ष्मण मेघनाद ही दिखते थे लड़ते लाखों में।

नभ में थे नाराच और शर अंतरिक्ष में छाये,
विशिख विद्ध धरती तीरों ने तल पाताल थहाए।

तीर दूर में तीर पार्स में तीर थाह में उंह में,
तीर मित्र के उर में बेधा तीर शत्रु के मुंह में।

दोनों जयाभिलाषी अपने को न समझते कम थे,
काल सरीखे एक दूसरे को युग योद्धा यम थे।

वीरों के वसंत के दिन पतझड़ से लड़ते क्षण थे,
सेमल से पलाश से फूले मेघनाद लक्ष्मण थे।

उन्मुख उषा और ज्वाला मुख गिरि से अरुण वरण थे,
लक्ष्मण मेघनाद घायल हो करते रुधिर क्षरण थे।

पानी की बौछार कभी तो कभी आग बरसाते,
कभी डुबो देते चुल्लू में आंच बिना झरसाते।

बादल से गरजते धनुष से बिजली से जल जाते,
बरबस ही नाराच-वृन्द चढ़ डोरी पर चल जाते।

समर साधना सिद्ध नवल वय विद्ध, युद्ध आयुध से,
लक्ष्मण, मेघनाद अरुणासित भासित मंगल बुध से।

गूंज रहे ज्याघोष समर-स्वर धन्य धन्य धिक् धिक् के,
बाण प्रमाण बन गये बल पा देश-काल के दिक् के।

आतंकित आकाश और धरती खाती चक्कर है,
लगता सर्जन और विसर्जन दोनों में टक्कर है।

त्याग, तपस्या, ओज तेज बल दृढ़ आसन अनुशासन,
एक ओर था मनुज धनुर्धर कर, शर और शरासन।

संचय, भोग, अनीति, अपव्यय हरण और निष्कासन,
और दूसरी ओर दर्प-मंडित सिंहासन, शासन।

दोनों में था द्वन्द स्वार्थ से डूबे सुख-भोगी में,
जनहित कष्ट भोगने वाले जटिल युवा योगी में।

गोरा मुख हो उठा लाल था बाल बँधे बिखरे भी,
आधे-आधे नयन लक्ष्य विद् मुँदे मगर निखरे भी।

मुंह में थी मुस्कान व्यंग की वक्र अधर की रेखा,
वे सतेज हो गये कनखियों से जिन को भी देखा।

भीम भांजते धनुष दूसरों को भी उकसाते थे,
स्वयं चलाते बाण भालु कपि पाहन बरसाते थे।

रामानुज ने एक एक कर छोड़े बाण बहुत से,
जो यम-जाल विषैले फैले काल-व्याल संयुत से।

एक तीर से छत्र-मुकट की छवि छलना को छांटा ,
और दूसरे से सोने के भुज बंधों को काटा ।

चीर चला तूणीर तीर तीसरा खसे खर शर थे ,
मेघनाद के व्यर्थ बन गये विशिख प्रहार प्रखर थे ।

चौथा ले नाराच उड़ा कटि-बंध पांचवां पट को ,
रामानुज ने नग्न कर दिया विकट रजनिचर नट को ।

फिर संकेत किया, लघु लंकापति ने जिसको भांपा ,
गदा घुमाते चले विभीषण पर कातर उर कांपा ।

नग्न, निरस्त्र किन्तु त्रिपुरारित तप बल युक्त भतीजा ,
चचा विभीषण शिथिल अंग हो गये पलक-पट भीजा ।

बोले 'आप बधें, मेरे तो आंखों में पानी है ,
वध्य आपका रामानुज यह सम्मुख अभिमानी है ।'

बोले लघु रघुवीर 'विमुख हो बचते विध्वंसी हैं ,
अस्त्रहीन पर वार न करते रण में रघुवंशी हैं ।'

आकस्मात् हो गया धूमिल रवि मण्डल का घेरा ,
धरती पर छा गया चतुर्दिक आमिष पूर्ण अँधेरा ।

थोड़ी देर रहा असमंजस फिर छँट गया तिमिर था ,
शस्त्र-सज्ज सन्नद्ध समर को दिखा देव रिपु फिर था ।

रामानुज ने खींच शरासन विषम बाण संधाना ,
तीरों ने तीरों पर साधा बाधा भरा निशाना ।

इन्द्रियजित से भिड़ा इन्द्रजित अजित, अजेय अड़े थे ,
लगता था दो विग्रह के ग्रह घुमड़े और लड़े थे ।

तीर तोड़ता तीर अगर तो चिनगारी उड़ती थी ,
वीर मोड़ता वीर अगर सेना सारी मुड़ती थी ।

द्वन्द-युद्ध विकराल सत्य मिथ्या सद् और असद् में ,
शौर्य और संहार समर यह विक्रम और विपद में ।

क्रोध युक्त लघु बंधु राम के असहनशील अनल से ,
जब-तब जल उठते थे ज्योतित होकर अंतर्बल से ।

जटा-घटा खुल गयी रेख माथे पर मंगल-युत सी,
अधर स्फुरित, विच्छुरित विप्लव दंत-पंक्ति विद्युत सी।

टेढ़ी भौंह, खड्गवत् पांखें आंखें अंगारे सी,
अरुण-पटल पर श्याम पुतलियां संध्या में तारे सी।

शुक-चंचुक नासिका कि नीचे असित रेख खींची है,
तेजोद्दीप्त मुखाकृति कृति ने देख आंख मीची है,

जैसे पाकर आग पिघलकर सोना बना खरा है ?
वैसे-सी आवेश-युक्त हो मुख-मण्डल निखरा है।

जब काढ़ते कमान, म्यान से या तलवार भुजाली,
लगता था वैश्वानर ने जल, लोहित लपट निकाली।

धनुष खींचते दिक् मण्डल नप जाता अर्द्ध-परिधि से,
बाण छोड़ते बड़े-बड़े भी बिंध जाते जिस विधि से।

अमित ऊर्जा अर्जित, सर्जित धनपति के उद्यम से,
जो विकराल विशिख लघु रघुवंशी को मिला नियम से।

उसे चलाकर रामानुज ने की कुछ देर प्रतीक्षा,
मेघनाद ने रुद्रदत्त शर से की समर-समीक्षा।

दोनों दिव्यायुध आपस में इस प्रकार टकराये,
जैसे उल्कापिण्ड उड़ें दो, लड़ें घोर रव छाये।

दोनों के ही किये गये हो गये वार असफल थे,
दोनों ही आश्चर्यचकित हो कुछ पल को हतबल थे।

फिर आग्नेय विशिख से बेधा अंतरिक्ष रावणि ने,
सूर्यास्त्र से शांत कर दिया था लघु रघुकुल मणि ने।

अब असुरास्त्र मात्र आलंबन मान युद्ध जलनिधि में,
खींच शरासन की नौका देकर पतवार परिधि में।

मेघनाद का बाण बह चला हाहाकार मचा था,
रामानुज के माहेश्वर शर से यह वार बचा था।

'अस्त्रों की आतशबाजी यह कब तक खुल खेलेगी,
पूछा विकल विभीषण ने 'यह खल दुनिया झेलेगी ?

हे शेषावतार कर दो अशेष इस शेष दनुज को,
समझो रावण मरा मिल गयी मोहलत देव-मनुज को।

हँसे उर्मिलाकान्त उषा की लाली ऐसी दौड़ी,
ओज सरोज खिल उठा छाती और हो गयी चौड़ी।

तरकस से ले सबसे तीखा तीर धनुष पर तोला,
'जय श्री राम लक्ष्मण की जय जय,' वानर-दल बोला।

सद् संकल्प पूर्ण संपुट में राम नाम की मणि को,
देखा, शस्त्र सज्ज सम्मुख सन्नद्ध, क्रुद्ध रावणि को।

बोले 'यदि है सत्य सत्य-पथ मापक गति दिनकर की,
सत्य कथा कवि कोविद कुल में रविकुल रवि रघुवर की।

सद् संकल्पित सदाचरण संयुक्त शांति है रण है,
सत्य नाम है, सत्य काम है सत्य राम का प्रण है।

तो मेरा भी अंतिम अरि पर बैठे सही निशाना,
रामानुज ने छोड़ा अब जो पहले शर संधाना।

छूटा बाण, प्रमाण प्रत्यंचा से ध्वंशी ध्वनि निकली,
ऐसा लगा कि दावानल पर गिरी गरज कर बिजली।

रावणि के कलधौत कवच को चीर तीर नीचे भी,
चुभा हृदय में ऐसा आए जो न कभी खींचें भी।

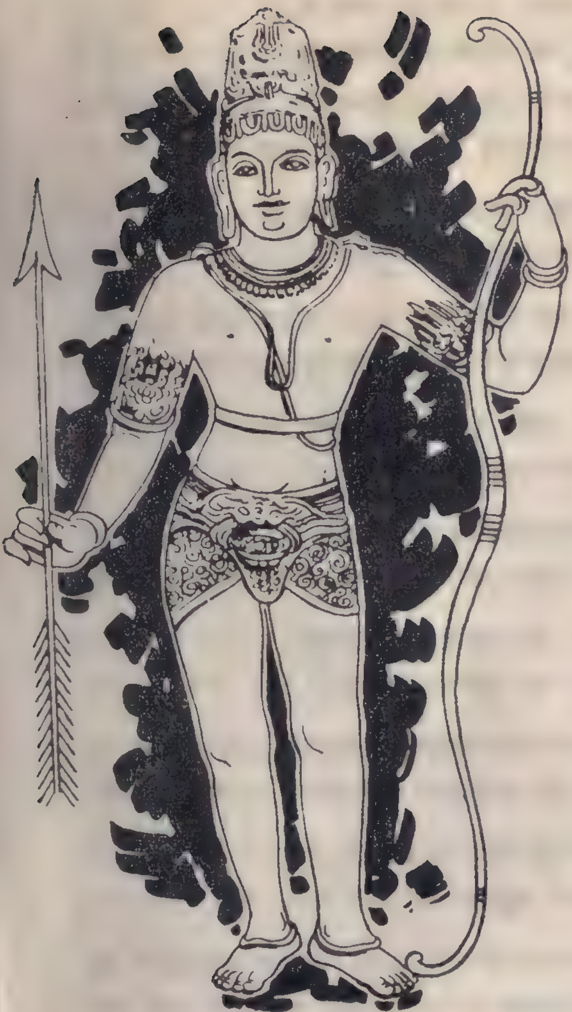
मुरझाया मुंह मौन हो गया भ्रान्त क्लान्त कातर था,
बही रक्त की धार प्राण ले बाण हुआ बाहर था।

राम के विजय की भूमिका थी लिखी गयी जहां,
वहीं लिखा लखन का अमर समर गया,

माता-मुक्ति-पर्व को मनाया यहां वानरों ने,
वहां राक्षसों का जैसे ओज-तेज हर गया।

देवता प्रसन्न, उठा मस्तक मनुष्य का था,
सीता जी का ध्यान मांग की सिंदूर पर गया,

मानो दशशीश को दबा के बीस बाहु तोड़,
आसमान टूट पड़ा, मेघनाद मर गया॥



सैंतीसवाँ सर्ग

मेघनाद-बध कर, रावण-बध की भूमिका बनाये,
अग्रज के आगे रामानुज अस्त-व्यस्त हो आये।

माथे पर से टपक रहा था टप-टप खून पसीना,
विंध्य-वेध ज्यों शोण बेतवा को गति मिली नवीना।

कुछ के घाव बहुत गहरे कुछ त्वचा छील निकले थे,
कुछ वक्षस्थल में बेधे थे बाण नहीं निकले थे।

जटाजूट में उलझे कुछ तो कुछ ने मस्तक छेदा,
कुछ मुखमण्डल माप गये शर कुछ ने कुण्डल भेदा।

फूटें झरने पाषाणों के ज्यों प्राणों के प्रण से,
लक्ष्मण का समक्ष लोहित था त्यों बाणों के व्रण से।

जो लोहे से लगे बाण वे सोने से निखरे थे,
कुछ थे आधे चुभे और कुछ बदन छील बिखरे थे।

लहू-लुहान लखन लथ-पथ लग कण्ठ सुकण्ठ सखा के,
नये-नये ले घाव पास में गये पुरुष-पुरखा के।

अग्रज देख अनुज को आहत सिर सूंघा मुख चूमा,
क्षत-विक्षत तन किन्तु मगन मन अक्षत बन कर झूमा।

छूकर पैर, लगा लोहू से सनी धूलि मस्तक पर,
इन्द्र-जीत-जय-गाथा लिख दी पौरुष-कृत पुस्तक पर।

शोणित पोंछ द्रव्य द्रोणित को उर से खींच उलीचा,
और अनुज के गहरे घावों को फाहों से फींचा।

फिर बोले सुषेण से 'करके शल्य-क्रिया शर खींचो,
जो हैं चुभे, सूखते मुख-मधु को औषधि से सींचो।

कर दो स्वस्थ कपीन्द्र भालुपति हनूमान अंगद को,
निर्विष बनें विभीषण लेना जिन्हें राज्य के पद को।'

ऐसी परिचर्या सुषेण ने की सब घाव भरे थे,
रामानुज के साथ समर के सहचर सब उबरे थे।

स्वस्थ अनुज को फिर करके निकटस्थ भुजाओं में भर,
बोले रविकुल कमल दिवाकर नारायण रूपी नरः—

'तुमने सिद्ध कर दिया लक्ष्मण विद्ध-वक्ष हो रण में,
सर्वोपरि संकल्प मनुज के, रुज के, दनुज दलन में।

तीन-तीन दिन प्राण हथेली पर लेकर के काटे,
तीन-तीन रातों के खींचें खून भरे सन्नाटे।

हे इन्द्रियजित इन्द्रजीत भी हर हिकमत कर हारा,
मेघनाद-वध के आयुध से दस-कंधर को मारा।

वासव-जेता-सुवन समर्पित कर अंतिम द्युति देगा,
युद्ध-यज्ञ में दशमुख सम्मुख अपनी आहुति देगा।

सीता का उद्धार अनुज आहत उर से उद्धृत है,
बूंद-बूंद जो रुधिर तुम्हारा बहा बना अमृत है।

रघुकुल में कलंक-कालिख जो लगी धुएं-सी धोई,
तुमने किया काम वह जिसको कर न सका था कोई।

सेवक से लग गये साथ बीहड़-वन के कांटों में,
पकड़ा हाथ विकट-वेला में बहकी-सी बाटों में।

ग्लानि मेट जानकी-हरण की वरण विजय का करके,
बन ध्वज-दण्ड अखण्ड कि जिस पर झंडा उड़ा लहर के।

तीन लोक की मर्यादा को नहीं मुकुट धर देखा,
वह महीप भी लांघ न पाया ज्योतित लक्ष्मण-रेखा।

ऐसा कौन कि आयुध झंझा के झकोर के झेले,
जो औरों के लिए कढ़े हों बढ़े वक्ष पर ले ले?

ऐसा कौन पिता माता भ्राता पत्नी को छोड़े,
संकट-ग्रस्त बड़े भाई की ओर विजय-पथ मोड़े?

ऐसा कौन चरित्रवान् विधि की विचित्र रचना में,
जो रावण की जगह राम का नाम मढ़े रसना में?

ऐसा कौन कर्म-योगी कांटों को फूल बनाए,
सागर गिरि समेत धरती को धर अनुकूल बनाये?

ऐसा यती कौन जिसकी गतिमती गहनतम गरिमा,
ऐसा व्रती कौन कटुता को वर ले छोड़ मधुरिमा?

ऐसा कौन जयी जिसकी जिह्वा पर राम लिखे हैं,
ऐसा कौन तपी जिसकी गति बांच विराम दिखें हैं?

तमपूरित जड़ जीवन में दिखता जो ज्योतिर्कण है,
शुभ लक्षण संपन्न सृष्टि का ही समग्र लक्ष्मण है।

राघव-रावण के विग्रह में जो सह गये व्यथा हो,
मैं चाहता वही प्रचलित प्रति-युग में राम-कथा हो।'

बोले कौशलेन्द्र 'निराधार मारना छलांग,
व्यर्थ की उड़ान जुड़ी ख्याति में कभी कहीं,

जहां सीप-सा समीप साधक रहे न वहां,
पाया गया मोती सिर्फ स्वाति में कभी कहीं ?
धाए बिना पाये ठोस ठांव, रखने को पांव,
आये उग्र व्यग्र अग्र पांति में कभी कहीं,
राम की कहानी बिना लखन लला के भला
मानी गयी ज्ञानी गुनी जाति में कभी कहीं ?'



लखनपुरी

रघुकुल रीति नीति नियमन में जब जन-जीवन डूबा ,
रामानुज लक्ष्मण का मन तब अवध पुरी से ऊबा ।

सुख—शय्या से उठें धराधर अधर राम रस घोले ,
अंगड़ाई के साथ उनीदे उन्मन-स्वर में बोले :--

'चलें उर्म्मिले वहाँ मिले कोई न जहां संसारी ,
प्रकृति-मुदित मधु-लुब्ध महो से महके क्यारी-क्यारी ।

जब से मैंने राज-नियम से कसा तपी तन-मन को ,
लगता है कुछ छूत लग गयी सहज शुद्ध जीवन को ।

ओज भरा अंगार बुझ गया असहन-शील अनल का,
पौरुष का उद्दंड पराक्रम नहीं रुधिर बन छलका।
आंखें हुई न लाल ज्वाल की सीझी शिखा सिरानी,
अपनी क्वारी कीर्ति बन गयी वंध्या बही बिकानी।

अब तो यह मन में आता है वन में बसें अकेले,
सहज सुखद स्वच्छंद विपिन में बीतें दिन अलबेले।
सबसे बड़ी अयोध्या नगरी सरयू की जल धारा,
हम छोटे हैं बड़ों-बड़ों पर क्या अधिकार हमारा?

नन्हें लखन लाल की नन्हीं नगरी बसे निराली,
नन्ही नदी निरापद कलरव अगल-बगल हरियाली।'
इतना कहकर रामानुज ने अपनी भृकुटि चढ़ायी,
आंखें मलीं तुरत उठ बैठे ली भुजभर अँगड़ाई।

आनन था अंगार आन पर चढ़ा हुआ था पानी,
आधी आँखें खुली हुई थीं आधी थीं अलसानी।
ओज और माधुर्य कर चुके थे चुपके से एका,
और उर्मिला ने उसपर जब अपना मधुरस फेंका।

तेज और तप तरल त्यागमय सुन्दरता से सानी,
नीव पड़ी रस की नगरी की औ' बन गयी कहानी।
सोचा कुछ फिर उठे सुमित्रासुत निकले बाहर थे,
हनूमान ले शस्त्र सज्ज रथ चलने को तत्पर थे।

रथ पर चढ़े सुमित्रानन्दन चालक स्वयं बने थे,
लगता विद्युत-दल बादल पर थे क्षिति-छोर तने थे।
आंधी से घोड़ों पर पड़ते थे पानी से कोड़े,
चले जा रहे थे ज्योतिर्मय तुरग ज्योति से जोड़े।

नन्ही नदी गोमती तट पर पहुँच गयी जब टोली,
राघव के छोटे भाई को सूझी अजब ठठोली।
हनूमान से कहा 'रोक दो रथ पथ सतरंगा है,
अर्धाकार धनुष-सी बहती यहां आदि गंगा है।

लक्ष्मण उतरे भूपर ऊपर सूर्य देव डूबे थे,
दोनों थे विराम के इच्छुक दिन भर के ऊबे थे।

'चलें पवन सुत इस टीले से देखें छवि इस छन की,
धेनुमती की धवल-धार से धुले सहज उपवन की।

सोंधी माटी सुमन सजीले मीठा नीर नदी का,
सांझ जहां की चटक सुबह से प्रात रात से फीका।

अति उदार जलधार गोमती सहज गति-मती सरिता,
अल्हड़-युवक युवतियां मनहर मधुर भावना भरिता।

एक ओर धरती है जिसके एक ओर धारा है,
दो भागों में बँटा हुआ भावुक भूतल सारा है।'

लक्ष्मण टीले पर चढ़ बोले 'मधु-निधि मैंने पा ली,
सुनो पवन सुत अपनी नगरी अब तो यहीं बसाली।

दे दी मैंने इस नगरी को अपनी कीर्ति-कहानी,
अग्रज का औदार्य, उर्मिला की आंखों का पानी।

अरिमर्दन का ओज भरत की भावुकता बलिदानी,
यहीं कहीं लगता है सीता की सुधि सनी समानी।

हनूमान मिल गया तुम्हारा इस धरती को बल है,
तब भ्रम क्या यम जहां पूछता स्वयं कुशल-मंगल है?

निकट नैमिषारण्य आदि कुल जन मनु की मख शाला,
अट्ठासी हजार ऋषियों ने फेंका जहां उजाला।

इसी नदी से भरे कमंडलु सनकादिक मुनि शुक ने,
ऋषि-मुनियों ने किये आचमन गति पायी भिक्षुक ने।'

रामचन्द्र की प्रतिमा गढ़ ली लेकर गीली माटी,
लखनलाल ने मूर्ति कला की आदि कथा उद्घाटी।

और उर्मिला का अन्तर पट पर जो चित्र उतारा,
नृत्य और संगीत कला को उससे मिला सहारा।

बोल उठे सौमित्रि 'धरित्री की यह धर्म-धुरी है,
यही पवन सुत लगता मुझको अपनी लखन पुरी है।

वज्रादपि कठोर उर बल पर कुसुमादपि थी नरमी,
जड़ता के जाड़े में डालो चेतनता की गरमी।

सबका किया समन्वय पहले परखा और तपाया,
लखनलाल ने सब कहते हैं तब लखनऊ बसाया ।।

समाप्त

इस कविता की अंतिम चार पंक्तियां लखनऊ में स्थापित नगर-देवता वीरवर लक्ष्मण जी की प्रतिमा पर अंकित हैं। प्रतिमा की प्रति-कृति इस कविता के आरम्भ में दी गयी है।

समाप्त